मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 26 ● वर्ष 3 ● अंक 8 ● अक्टूबर 2013 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

पेरिस कम्यून की सचित्र गाथा 8-9-10

डेंगू – लोग बेहाल, "डाक्टर" मालामाल और सरकार तमाशाई 4

आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र की आलोचना 16

सावधान! फ़ासीवादी शक्तियाँ अपने ख़तरनाक खेल में लगी हैं! इनका निशाना है जनता की एकता!

इनके नापाक इरादों को नाकाम करना ही होगा!

सम्पादकीय अग्रलेख

धर्म के नाम आम लोगों को बाँटकर और लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करने में लगी ताक़तें अभी भी मुज़फ़्फ़रनगर में साम्प्रदायिक आग ठण्डी नहीं होने दे रही हैं। दशहरे के दिन भी इन्होंने माहौल बिगाड़ने की पूरी कोशिश की। अभी त्योहारों का समय चल रहा है, इसलिए कोई बड़ी बात नहीं होगी कि ये मानवद्वेषी लोग फिर से किसी किस्म का साम्प्रदायिक फ़साद खड़ा कर दें। लेकिन मुज़फ़्फ़रनगर के दंगे इस साल की पहली साम्प्रदायिक घटना नहीं है। इस साल अगस्त महीने तक पूरे देश में साम्प्रदायिक हिंसा की 479 घटनाएँ हो चुकी हैं जिनमें 93 तो उत्तर प्रदेश में हुई हैं। 2012 का साल भी ऐसा ही गुज़रा था, तब साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं की संख्या 640 रही थी।

भारत में साम्प्रदायिकता का खेल सभी राजनीतिक पार्टियाँ खेलती हैं, मगर यहाँ फ़ासीवादी राजनीति का केन्द्र राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ही है जो साम्प्रदायिक दंगे-फसादों को बाकायदा रणनीति बनाकर प्रायोजित करता है। अक्सर बुद्धिजीवियों, जनवादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं सहित तमाम लोगों को यह भ्रम रहता है कि भारत में फ़ासीवाद का मतलब सत्ता में, खासकर केन्द्र में भाजपा की सरकार होने या ना होने से है। "लाल" झण्डे वाली संसदीय वाम पार्टियों ने इस धारणा को ओर बल दिया है जो अक्सर साम्प्रदायिक ताक़तों को सत्ता से बाहर रखने के नाम पर कांग्रेस के आंगन में झाड़ू-पोंछा करती रहती हैं लेकिन वास्तव में हक़ीक़त ऐसी बिलकुल भी नहीं है। भाजपा भारतीय फ़ासीवादी धारा का सिर्फ एक राजनीतिक संगठन है जिसका इस्तेमाल संघ संसदीय स्पेस को ज़्यादा से ज़्यादा इस्तेमाल करने के लिए करता है। संघ के 30 से ज़्यादा और संगठन भी हैं। इसलिए अगर भाजपा सत्ता में नहीं हो तो इसका मतलब यह नहीं है कि फ़ासीवाद का ख़तरा टला हुआ है और फ़ासीवाद का मुकाबला करने का मतलब महज भाजपा को केन्द्र में सरकार बनाने से रोकना है। इसके उलट ऐसे समय में फ़ासीवाद अपना काम चुप-चाप लेकिन उतने ही सघन और पूरी ताक़त से कर रहा होता है जितना वह सत्ता में रहने के दौरान करता है। संघ की सरगर्मियों और पिछले एक दशक के दौरान, जब इसकी संसदीय 'शाखा' यानी भाजपा केन्द्रीय सत्ता से बाहर है, इसके कारनामों को देखकर इस बात का अन्दाज़ा भली-भाँति हो जाता है।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर दें कि संघी साम्प्रदायिकता और फ़ासीवाद को बेनकाब करने और उसका विरोध करने का मतलब यह हरगिज़ नहीं है कि हम दूसरे धर्मों की साम्प्रदायिक धाराओं और फ़ासीवादी रंगतों को किसी भी तरह की छूट दे रहे हैं, या किसी को उनकी निन्दा और विरोध नहीं करना चाहिए। मुस्लिम कट्टरपन्थी सहित हर तरह के साम्प्रदायिक संगठनों और फासीवादी रंगतों को भी आवाम के सामने और ख़ास तौर पर उन धर्मों, इलाकों के लोगों के बीच बेनक़ाब करना उतना ही ज़रूरी है। पर हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि भारत में सरेआम फ़ासीवादी सत्ता कायम करना, दूसरे धर्मों, जाति या इलाका आधारित अल्पसंख्यक लोगों को दबाने, क़त्लेआम करने और बड़े पूँजीपतियों के लिए संकट के दौर में डण्डे का राज क़ायम करने, हर तरह के जन विरोध को कुचलने का सामर्थ्य और सम्भावना सिर्फ संघी फ़ासीवाद में ही है। भारतीय पूँजीपति वर्ग भी "कठिन समय" में अपना दारोमदार संघी फासीवाद के ऊपर ही डालेगा। भारतीय पूँजीपतियों जैसे टाटा, अम्बानी आदि द्वारा गुजरात के "विकास पुरुष" नरेंद्र मोदी की समय-समय पर की जा रही खुले दिल से तारीफ़ और भाजपा द्वारा मोदी को 2014 के चुनाव में प्रधानमंत्री पद के लिए आगे लाना आने वाले कल की झलक पेश कर रहा है। अन्तरराष्ट्रीय पूँजीवाद की भोंपू 'टाइम' पत्रिका तो बहुत पहले ही अपने पहले पन्ने पर मोदी की फोटो लगाकर उनके द्वारा गुजरात के "विकास" के कसीदे पढ़ चुकी है और उन्हें भारत के भविष्य के नेता के रूप में पेश कर चुकी है। दूसरी तरफ, अल्पसंख्यक साम्प्रदायिक धाराओं या फ़ासीवादी रंगतों में ऐसी सम्भावना या सामर्थ्य बिलकुल भी नहीं है, लेकिन चूँकि ये धाराएं और रंगतें जनवादी ताक़तों के फ़ासीवादी विरोधी कैम्प की एकता को तोड़ने, बिखेरने और संघी फ़ासीवाद के प्रचार के लिए मसाला उपलब्ध करवाने के सिवा और कुछ नहीं करतीं, इसलिए इनका पर्दाफाश भी उतना ही ज़रूरी है। पर यह याद रखना चाहिए कि इनमें से ज़्यादातर ताक़तें अपनी खुराक संघी-मार्का हिन्दू फ़ासीवाद के विरोध में और अल्पसंख्यकों के बीच असुरक्षा की भावना से ही प्राप्त करती हैं।

2014 के चुनाव आ रहे हैं, और संघ के फ़ासीवादी गिरोह धर्म के नाम पर जनता का ध्रुवीकरण करने के लिए पूरे ज़ोर-शोर से लगे हुए हैं। दंगे-फसाद कराने के अलावा संघ के फ़ासीवादी गिरोह और भी बहुत कुछ करते हैं जिन पर अक्सर ही आम लोगों की नज़र नहीं पड़ती। इन सब के बारे में चर्चा करने से पहले हम संघी संगठनों (जिनको 'संघ परिवार' कहा जाता है) के कारनामों पर एक नज़र डाल लें जिनमें मुसलमानों और ईसाईयों के विरुद्ध हिंसा शामिल हैं ।

संघी फ़ासीवाद की करतूतों पर एक नज़र

अपने जन्म से लेकर ही, संघ की तरफ से फैलाया गया साम्प्रदायिक ज़हर कितना ख़तरनाक और व्यापक रूप धारण कर चुका है, इसका पता गुजरात और महाराष्ट्र में हुई साम्प्रदायिक घटनाओं और दंगों से चलता है। हालांकि काँग्रेस (जिसकी 1984 के सिख विरोधी दंगों में भूमिका जगजाहिर है) और महाराष्ट्र में शिवसेना और एन.सी.पी. आदि भी साम्प्रदायिक हिंसा भड़काने में शामिल रही हैं लेकिन फ़ासीवादी कार्यक्रम संघ के पास ही है, यह इसकी बाकायदा रणनीति है। अकेले महाराष्ट्र में 1998-2008 के 11 साल के दौरान 1123 साम्प्रदायिक झड़पें या दंगे हुए, जिनमें तकरीबन 200 लोगों की जान गयी। अलग-अलग साल के हिसाब से देखा जाए तो यह पूरे देश में होने वाली इस तरह की घटनाओं का 10.23 प्रतिशत है। यह संख्या गुजरात से भी ज़्यादा है जहाँ 2002 के दंगों में 2000 से ज़्यादा लोग मारे गये। महाराष्ट्र की राजधानी मुंबई में देश के बाकी सभी शहरों से ज्यादा साम्प्रदायिक दंगे या झड़पें हुई हैं। जलगाँव, धूले, ठाणे, परभणी, नांदेड़, शोलापुर

(पेज 11 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

एक मज़दूर की मौत!

मैं मानेसर के सेक्टर-5 स्थित 'ओरियण्ट क्राफ्ट' की फैक्टरी में पीस रेट पर सिलाई का काम करता हूँ। वैसे तो गुड़गाँव और उसके आसपास ओरियण्ट क्राफ्ट की अलग-अलग 50 फैक्टरियाँ है जो कापसहेड़ा, सुखराली, हीरो होण्डा सेक्टर 37-34 व मानेसर में स्थित हैं।

इस फैक्टरी में आज से तीन महीने पहले वाशिंग डिपार्टमेंट में काम करने वाले एक मज़दूर की मौत हो गयी जो कि बिहार का रहने वाला था। काम की परिस्थितियाँ ही उस जगह की कुछ ऐसी हैं कि वहाँ काम करने वाला हर मज़दूर तिल-तिल कर मौत के मुँह में जा रहा है। ये चार मंज़िला इमारत है जिसमें करीब 800 मज़दूर काम करते हैं। सबसे नीचे बेसमेंट में धुलाई डिपार्टमेंट है जिसमें केमिकल व भाप की वजह से हर वक्त एक अजीब सी गन्ध आती रहती है। मैं तो एक बार सैकेण्ड फ्लोर से बेसमेंट गया तो पाँच मिनट में मेरी साँस फूलने लगी। और मैं जल्दी से बाहर को भागा। उस मज़दूर की मौत का कारण भी यही घुटन भरी परिस्थितियाँ थी। बस उसकी मौत फैक्टरी में न होकर उसके कमरे पर हुई। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट में साफ आया कि फेफड़ों में सूजन व गर्दा की वजह से वह मरा। उसकी मौत की ख़बर उसके घरवालों को दी गयी और उसके घर वाले दौड़े-दौड़े बिहार से गुड़गाँव आये। उसकी माँ ने मौत के मुआवज़े के लिए बहुत दौड़ लगायी मगर कम्पनी मैनजमेंट को ज़रा भी तरस नहीं आया। उसकी माँ ने कम्पनी मैनेजेण्ट से अपील की और पुलिस से गुहार लगायी। कम्पनी में पुलिस आयी भी मगर कोई कुछ भी नहीं बोला और कोई सुराग भी हाथ नहीं लगा। क्योंकि उसकी मौत के अगले दिन ही उसकी हाज़िरी के सात दिन की उपस्थिति ग़ायब कर दी गयी। और बहुत ही सख़्ती के साथ मैनेजर ने अपने आफिस में लाइन मास्टरों, सुपरवाइज़रों, ठेकेदारों से लेकर सिक्योरिटी अफसरों तक को यह हिदायत दे दी कि अगर उसकी मौत के बारे में किसी ने उसके पक्ष एक बात भी कही तो उसके लिए इस कम्पनी से बुरा कोई नहीं होगा। और इस तरह ऊपर से लेकर नीचे एक-एक हेल्पर व सभी कर्मचारियों तक मैनेजर की यह चेतावनी पहुँच गयी। और पूरी कम्पनी से कोई कुछ नहीं बोला। उसकी माँ सात दिन तक गेट के बाहर आती रही, लगातार रोती रही। मगर हम मज़दूरों में कोई यूनियन न होने की वजह से हम सब मजबूर थे। और आज मैं भी यह सोच रहा हूँ कि मेरे साथ भी अगर कोई हादसा होगा तो मेरे घरवालों के साथ भी यही हाल होगा।

– एक मज़दूर, गुड़गाँव

ख़ामोशियों को तोड़िये, आवाज़ दीजिये

हमें 'मज़दूर बिगुल' बहुत अच्छा लगता है। इसके पिछले कुछ अंकों को मैंने पढ़ा है। यह सच्चे अर्थों में एक क्रान्तिकारी अख़बार है, इसे पढ़ने के बाद हमें चीज़ों को सही रूप में देखने की प्रेरणा मिली। हर तरफ फैली बुराइयों, भ्रष्टाचार और पूँजीवाद का घिनौना सच देखने की दृष्टि हमें 'मज़दूर बिगुल' और एक अन्य पत्रिका 'आह्वान' के माध्यम से मिली। इसके लिए हम आप सबके आभारी हैं।

मुझे इस बात का बहुत अफसोस है कि यह सब जानने-समझने में मैंने इतना वक़्त क्यों लगाया, मैं इतनी मूर्ख क्यों थी। शायद इसका कारण यह है कि यहाँ पर न तो इसे जाने का कोई ज़रिया था और न ही बताने वाला। मैं भगतसिंह को एक सच्चे देशभक्त क्रान्तिकारी के रूप में बचपन से जानती थी, पर उनके सपनों को, उनके सच्चे उद्देश्य से पूरी तरह अनजान थी, जिसे मैंने अब जाना है।

मैं एक साधारण लड़की हूँ, मैं कोई राजनीतिक या वैज्ञानिक सोच नहीं रखती हूँ, पर मैं सबकुछ जानना और समझना चाहती हूँ। मैं सर्वहारा वर्ग के लिए और स्त्रियों की मुक्ति के लिए कुछ करना चाहती हूँ। मैं अपना सम्पूर्ण जीवन सर्वहारा वर्ग के लिए समर्पित करना चाहती हूँ। पर इस वक़्त मेरी जंग ख़ुद अपनी आज़ादी के लिए है। मुझे शशिप्रकाश जी का एक शेर बहुत प्रेरित करता है:

'इस हैबते हालात पे कुछ ग़ौर कीजिये, अब भी तो ख़ौफ़ छोड़िये आवाज़ दीजिये।

ग़म की नहीं ग़ुस्से की सदा बनके मेरे दोस्त, ख़ामोशियों को तोड़िये, आवाज़ दीजिये।'

– प्राची, इलाहाबाद

आम आदमी पार्टी का घोषणापत्र

(पेज 14 से आगे)

बेरोज़गारी, ठेकेदारी प्रथा, महिलाओं की स्थिति–इन सभी पर कुछ लोक-लुभावन नुस्खे और वही सूरज बड़जात्या मार्का फिल्मों जैसे समस्याओं का निदान करने का तरीका सुझाया गया है। न तो इन सारी समस्याओं को और न ही इनके विश्लेषण में पूँजीवाद को कठघरे में खड़ा किया गया है। दो-दो, तीन-तीन लाइनों में समस्याओं का बखान और उनके समाधान की व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि कुछ कानूनों के पारित हो जाने से, जिसमें लोकपाल बिल सबसे ऊपर आता है, ये सारी समस्याएँ खुद-ब-खुद समाप्त हो जायेंगी। कारण स्पष्ट है कि इन समस्याओं का समाधान वास्तव में इस पार्टी के एजेण्डा पर है भी नहीं।

घोषणापत्र के अन्त में हमें बताया गया है कि आम आदमी पार्टी किस रूप में अन्य चुनावबाज़ पार्टियों से भिन्न है। हमें बताया गया है कि इस पार्टी का कोई भी प्रत्याशी यदि सांसद या विधायक बनता है तो वह लाल बत्ती की गाड़ी में नहीं चलेगा, सरकारी बंगलों में नहीं रहेगा, किसी तरह की सुरक्षा नहीं लेगा। यह सब तो ठीक है लेकिन ऐसा करने के बावजूद यह पार्टी पूँजी और पूँजीपतियों की चाकरी ही करेगी, या कहना चाहिए कि और बेहतर तरीके से करेगी, जो कि इसके घोषणापत्र से एक बार फिर स्पष्ट हो गया है। तो इसके इसके सादे जीवन से जनता को तो कुछ नहीं मिलेगा। आम आदमी पार्टी में वास्तव में नया कुछ भी नहीं है। यह पार्टी भ्रष्टाचार-विरोधी लहर पर सवार होकर सत्ता के गलियारों तक पहुँचने की कोशिश कर रही है। यह पार्टी कहीं भी मुनाफ़े पर टिकी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा नहीं करती है, बल्कि हर समस्या के लिए भ्रष्टाचार को ही मुद्दा बनाती है। यह मध्यवर्ग के भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद के भ्रम की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। ऐसा कोई पूँजीवाद सम्भव नहीं है। पूँजीवाद अपने आप में एक भ्रष्टाचार है।

ऐसी तमाम प्रयास पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में बीच-बीच में होते ही रहते हैं। जब-जब पूँजीवादी व्यवस्था अपनी नंगई और बेशरमी की हदों का अतिक्रमण करती हैं, तो उसे केजरीवाल और अण्णा हज़ारे जैसे लोगों की ज़रूरत होती है, तो ज़ोर-ज़ोर से खूब गरम दिखने वाली बातें करते हैं, और इस प्रक्रिया में उस मूल चीज़ को सवालों के दायरे से बाहर कर देते हैं, जिस पर वास्तव में सवाल उठाया जाना चाहिए। यानी कि पूरी पूँजीवादी व्यवस्था। आम आदमी पार्टी का घोषणापत्र भी यही काम करता है। यह मार्क्स की उसी उक्ति को सत्यापित करता है जो उन्होंने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में कही थी। मार्क्स ने लिखा था कि पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा हमेशा समाज में सुधार और धर्मार्थ कार्य करता है, ताकि पूँजीवादी व्यवस्था बरक़रार रहे।

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट
आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

आप इस वेबसाइट पर जाकर भी बिगुल की सामग्री पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं या कोई रिपोर्ट आदि हमें भेज सकते हैं।

मज़दूर बिगुल **'जनचेतना'** की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर-273009**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09971158783**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलन कर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक खर्च सहित)

कारख़ाना इलाक़ों से

लुधियाना में टेक्सटाइल मज़दूर अनिश्चितकालीन हड़ताल पर

पिछले 4 अक्टूबर से लुधियाना के लगभग 45 टेक्सटाइल (पावरलूम) कारखानों में मज़दूर हड़ताल की लड़ाई लड़ रहे हैं। टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन के नेतृत्व में लुधियाना के 70 टेक्सटाइल (पावरलूम) कारखानों के मज़दूरों ने अपनी एक पंचायत करके माँग-पत्रक तैयार किया था और अपने-अपने मालिकों को सौंपा था। इस माँग-पत्रक में 30 प्रतिशत पीसरेट/वेतन वृद्धि, कम से कम 8.33 प्रतिशत के हिसाब से बोनस तथा सभी श्रम क़ानून लागू करने की माँगें उठाई गईं। 38 कारखानों के मालिकों ने मज़दूरों से 15 प्रतिशत पीसरेट/वेतन वृद्धि और 8.33 प्रतिशत बोनस लागू करने की माँग मानते हुए समझौता कर लिया। लेकिन बाकी कारखानों के मालिक मज़दूरों के अधिकार देने को तैयार नहीं हुए। इसके चलते मजबूरन मज़दूरों को हड़ताल पर जाना पड़ा है। कुछ और कारखानों के मज़दूर भी बाद में हड़ताल में शामिल हो गये। हड़ताल के बाद कुछ कारखानों में समझौता भी हो गया।

इस समय टे.हो.का.यू. के नेतृत्व में 27 कारखानों के मज़दूर हड़ताल पर बैठे हैं। उधर एक मज़दूर को मालिकों द्वारा पीटे जाने के बाद 4 अक्टूबर से ही गीता नगर के लगभग 30 कारखानों के मज़दूर लाल झण्डा टेक्सटाइल-होज़री मज़दूर यूनियन के बैनर तले ऐसी ही माँगों पर हड़ताल पर बैठ गये हैं। गीतानगर में 5 कारखानों में 12 प्रतिशत वेतन/पीसरेट वृद्धि का समझौता हो चुका है। हड़ताल वाले कारख़ानों में रिपोर्ट लिखे जाने तक 12 दिन तक भी कोई समझौता नहीं हो पाया है। जहाँ मालिक अड़ियल रवैया अपनाये हुए हैं वहाँ मज़दूर भी अपने अधिकार हासिल करने तक अनिश्चितकाल तक काम ठप्प रखने पर डटे हुए हैं।

मज़दूरों ने श्रम विभाग और प्रशासन तक अपनी आवाज़ पहुँचाई है। लेकिन सरकारी मशीनरी मज़दूरों के हक में कोई भी कदम उठाने को तैयार नहीं है। श्रम विभाग कार्यालय में पर्याप्त संख्या में अधिकारी और कर्मचारी ही नहीं हैं और जो हैं भी वो पूँजीपतियों के पक्के सेवक हैं। अन्य क्षेत्रों के कारखानों की तरह टेक्सटाइल कारखानों में भी श्रम कानून लागू नहीं होते हैं। मज़दूर पीस रेट पर काम करते हैं और कुछ महीने मज़दूरों को बेरोज़गारी झेलनी पड़ती है। बाकी समय उन्हें 12-14 घण्टे कमरतोड़ काम करना पड़ता है। देश-विदेश में बिकने वाले शाल व होज़री बनाने वाले इन मज़दूरों को बेहद गरीबी की ज़िन्दगी जीनी पड़ रही है। 'बिगुल' द्वारा इन मज़दूरों के बीच किये गये निरन्तर प्रचार-प्रसार और संगठन बनाने की कोशिशों की बदौलत अगस्त 2010 में टेक्सटाइल मज़दूरों के एक हिस्से ने अपना संगठन बनाकर एक नये संघर्ष की शुरुआत की थी। पिछले वर्ष तक इस संघर्ष की बदौलत 38 प्रतिशत पीसरेट/वेतन वृद्धि और ई.एस.आई. की सुविधा हासिल की गयी है। लेकिन लगातार बढ़ती जा रही महँगाई के कारण स्थिति फिर वहीं वापस आ जाती है। मालिकों के मुनाफे तो बढ़ जाते हैं लेकिन वे अपनेआप मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ाने, बोनस देने तथा अन्य अधिकार देने को तैयार नहीं होते। एकजुट होकर लड़ाई लड़ने के सिवाय कोई अन्य राह मज़दूरों के पास बचती नहीं है।

टेक्सटाइल होज़री कामगार यूनियन ने मज़दूरों के बीच लगातार वर्गीय चेतना का प्रचार-प्रसार किया है। नियमित चलने वाली साप्ताहिक मीटिंगों, चुनिन्दा मज़दूरों के अध्ययन मण्डल, 'बिगुल' अखबार, पर्चों, किताबों तथा जुबानी प्रचार आदि माध्यमों से हुए प्रचार और मालिकों के खिलाफ़ संघर्ष ने मज़दूरों में चेतना का विकास किया है और संगठन को मजबूती दी है। पिछले समय में मालिकों ने मज़दूरों की एकता तोड़ने की भरसक कोशिशें की हैं। तरह-तरह के बहाने बनाकर अगुवा मज़दूरों की छँटनी करना, डराना-धमकाना, लालच देना आदि तरह के हथकण्डे अपनाये गए हैं। मालिकों की यह खुशफहमी कि मज़दूरों का संगठन बिखर जायेगा और मज़दूर फिर से उनके पैर की जूती बन जायेंगे, इस हड़ताल ने दूर कर दी है। यह मज़दूरों में विकसित हुई चेतना की बदौलत है।

लाल झण्डा टेक्सटाइल-होज़री मज़दूर यूनियन के नेतृत्व वाले इलाके गीतानगर में हड़ताली मज़दूरों का मनोबल तोड़ने के लिए मालिकों द्वारा डराने-धमकाने के लिए पुलिस-प्रशासन की मदद ली जा रही है। 15 अक्टूबर को एक मशीन मास्टर और कारीगर के साथ एक फैक्ट्री मालिक द्वारा मारपीट की गई। इसके बाद इस इलाके के मज़दूरों और मशीन मास्टर की यूनियन द्वारा टिब्बा रोड, पुलिस चौंकी का घेराव किया गया। इस समय टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन, पंजाब भी मालिकों की इस गुण्डागर्दी के खिलाफ़ संघर्ष में शामिल हुई। साझे तौर पर पुलिस चौकी का घेराव करके दोषी मालिक को अन्दर करवाया गया और माफ़ी मँगवाने के बाद ही मज़दूरों ने धरना हटाया। टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन, पंजाब के अध्यक्ष राजविन्दर का कहना है कि उनके संगठन का निरन्तर प्रयास है कि टेक्सटाइल मज़दूर व्यापक एकता बनाकर लड़ाई लड़ें। मज़दूरों में भी यही भावना है। लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूरों की दो इलाकों में चल रही हड़तालों में अगर कुछ हद तक भी तालमेल बनाकर लड़ाई लड़ी जाती तो मालिकों पर अधिक दबाव बनता। मज़दूरों के साथ मालिकों द्वारा मारपीट की इस घटना के बाद पुलिस चौकी पर टे.हो.का.यू. द्वारा धरने में मज़दूरों की बड़ी संख्या में भागीदारी व्यापक एकता बनाने की उनकी कोशिशों का ही एक अंग है। उनका कहना है कि श्रम अधिकारों को हासिल करने के लिए मालिकों की संगठित ताकत का मुकाबला बड़ी एकता के ज़रिए ही किया जा सकता है।

– बिगुल संवाददाता

निर्माणाधीन मेट्रो स्टेशन पर गड्ढे में दबकर एक और मज़दूर की मौत!

गत 16 सितम्बर को दिल्ली में जहाँगीरपुरी से समयपुर बादली तक विस्तारित लाइन पर कार्यरत उमाशंकर नामक मज़दूर की मौत हो गयी जबकि दो अन्य घायल हैं। रोहिणी के सेक्टर 19 इलाक़े में बन रहे स्टेशन के पास उमाशंकर 30 फुट गहरे गड्ढे में गैस पाइप लाइन का पता लगाने उतरा था जहाँ मिट्टी धँसने से दबकर उसकी मौत मौके पर ही हो गयी। मारे गये मज़दूर की मौत के लिए साफ तौर पर ठेका कम्पनी और मेट्रो प्रशासन जिम्मेदार है क्योंकि काम के वक्त न तो मज़दूर के पास कोई सेफ्टी बेल्ट थी न ही गहरे गड्ढे में जाने से पहले उसके पास मास्क सहित ऑक्सीजन सिलेण्डर जैसी कोई व्यवस्था थी। उमाशंकर की लाश को ठिकाने लगाने में ठेका कम्पनी जैकुमार और मेट्रो अधिकारियों ने देरी नहीं की। अगले दिन साईट को बन्द कर दिया और वहाँ कार्यरत सभी मज़दूरों को दूसरी साईट पर भेज दिया गया ताकि मज़दूर अपने मारे गये मज़दूर भाई के साथ एकता न दिखा सकें और न ही खुलेआम श्रम क़ानूनों की अनदेखी के ख़िलाफ़ आवाज उठायें।

मेट्रो रेल के निर्माण में होने वाली यह पहली दुर्घटना नहीं है बल्कि ऐसी दुर्घटनाएँ लगातार होती आयी हैं। पीयूडीआर की रिपोर्ट के अनुसार मेट्रो रेल के दस साल के निर्माण में ही 109 बेकसूर मज़दूरों की मौत हुई

मेट्रो मज़दूर उमाशंकर - हादसे का शिकार या मुनाफ़े की हवस का

लेकिन इन मौतों के ज़िम्मेदार हत्यारों की न तो गिरफ़्तारी हुई, न ही किसी को सज़ा मिली और न ही मज़दूरों को इंसाफ़!

दरअसल इन दुर्घटनाओं को हादसा कहना ही ग़लत है। यह सीधे-सीधे उन बेकसूर मज़दूरों की हत्या है; जो इसमें मारे गये हैं क्योंकि डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों के लिए श्रम क़ानून, सुरक्षा उपायों और सुरक्षा उपकरण मुहैया कराना असल में इनके मुनाफ़े की हवस का रोड़ा है। इसलिए सभी क़ानूनों को ताक पर रखकर मज़दूरों को कोल्हू के बैल की तरह खटाया जाता है ताकि जल्दी से जल्दी 'वर्ल्ड क्लास सिटी' में मेट्रो दौड़े।

ठेका कम्पनियों के प्रति डी.एम.आर.सी. की वफ़ादारी जगजाहिर है तभी इन कम्पनियों द्वारा खुलेआम श्रम क़ानूनों के उल्लंघन के बावजूद इन पर कोई कार्रवाई नहीं होती है वैसे भी ठेका कम्पनियों का एकमात्र उद्देश्य सिर्फ लाभ कमाना है, सामाजिक ज़िम्मेदारी से इनका कोई सरोकार नहीं है। यही वजह है कि मेट्रो की कार्य संस्कृति भी सामाजिक सरोकारों से बहुत दूर है। तभी तो मज़दूर के शरीर पर लांचर गिरे, पुल टूटकर मज़दूर को दफनाये या ज़िन्दा मजदूर मिट्टी में दफन हो जाये, लेकिन मेट्रो निर्माण में लगी कम्पनियों की सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़ता।

ऐसे में हम मज़दूर साथियों से पूछना चाहेंगे कि कब तक हमारे मज़दूर भाई उमाशंकर की तरह मेट्रो रेल की नींव में धंसकर मरते रहेंगे। कहीं मुनाफ़े की हवस के लिए हो रही मौतों के लिए हमारी चुप्पी भी तो जिम्मेदार नहीं? और अगर हम आज चुप्पी साधे रहे तो कल हमारी बारी में भी कोई आवाज नहीं उठयेगा।

– बिगुल संवाददाता

डेंगू – लोग बेहाल, "डॉक्टर" मालामाल और सरकार तमाशाई

डॉ. अमृतपाल

हर साल की तरह इस वर्ष भी डेंगू देश के बहुत से शहरों, कस्बों में फैला हुआ है और आम लोगों में डेंगू की दहशत फैली हुई है। किसी को कोई बुखार हुआ नहीं कि डेंगू का ख़ौफ़ उसके मन में बैठ गया और खौफ़ज़दा आदमी से डॉक्टर क्या नहीं करवा सकता, डेंगू इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। धड़ाधड़ लेबोरेट्री टेस्ट हो रहे हैं, लोगों के "सैल" कम आ रहे हैं और जो जाल में फँसा (100 में से 95 फँस ही जाते हैं), उसको लिटाया, ग्लूकोज़ लगाया और दो-चार हज़ार रुपये मरीज़ की जेब से "डॉक्टर" की जेब में "ट्रांसफर" हो जाते हैं। अमीरों, मध्यवर्गीय इलाकों में प्राइवेट अस्पताल, क्लीनिक और मज़दूर-गरीब इलाकों में झोला-छाप डॉक्टर, सब का "सीज़न" चल निकला है, सब ख़ुश हैं। सरकारें ऐलान पर ऐलान कर रही हैं, मगर आम आदमी परेशान है, बेहाल है। महँगाई ने पहले से जीना मुश्किल कर रखा है, ऊपर से बीमारी का खर्चा और काम से भी छुट्टी। आखिर ये "सैल" कम होने का माजरा क्या है, क्या हर बुखार डेंगू होता है, और ये ग्लूकोज़, ये कौन सी "संजीवनी बूटी" है जो हर बुखार का इलाज है? इन्हीं सवालों पर हम चर्चा करेंगे।

"सैल कम" का मतलब क्या है और इसके लिए क्या करना होता है?

आम लोगों द्वारा "सैल" कही जाने वाली चीज़ असल में आदमी के ख़ून में मौजूद कई किस्म की कोशिकाओं में से एक है और डॉक्टरी भाषा में इसका नाम 'प्लेटलेट' है। जब कभी भी हमें कहीं चोट या कट लगता है तो ख़ून को बहने से रोकने के लिए सब से पहले यही 'प्लेटलेट' सक्रिय होते हैं और चोट के स्थान पर ख़ून का थक्का बनाकर ख़ून बहना रोक देते हैं। अगर इनकी संख्या कम हो जाये तो ख़ून का थक्का बनने में देर लगेगी या फिर थक्का बनेगा ही नहीं, इसलिए ख़ून बहने से आदमी का ब्लडप्रेशर कम हो जायेगा, बेहोशी आयेगी और कोई इलाज न मिलने की हालत में आदमी की मौत भी हो सकती है। आम लोगों में इनकी औसत संख्या डेढ़ से साढ़े चार लाख प्रति माइक्रोलिटर होती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि प्लेटलेट डेढ़ लाख से नीचे होते ही आदमी की जान को ख़तरा हो जाता है। असल में, अगर प्लेटलेट सैलों में कोई अन्य विकार नहीं है तो इन सैलों की संख्या पचास हज़ार से ऊपर होने पर किसी किस्म की कोई गड़बड़ी नहीं होती और आदमी को कोई ख़तरा नहीं होता तथा न ही घबराने की ज़रूरत होती है। अगर 'प्लेटलेट' की संख्या पचास हज़ार से नीचे से है मगर 25,000 से ऊपर है तो आम तौर पर ऐसे लोग भी कुछ दिनों के बाद ठीक हो जाते हैं, ऐसे लोगों को सिर्फ निगरानी में रखने की ज़रूरत होती है। अगर, सैलों की संख्या इससे नीचे चली जाती है तो आदमी को तुरन्त अस्पताल ले जाना चाहिए और ऐसे लोगों को अक्सर बाहर से 'प्लेटलेट' लगाने पड़ते हैं।

मगर हमारे यहाँ क्या हो रहा है? जिन लोगों के 'प्लेटलेट' की संख्या 50,000 से ऊपर है, यहाँ तक कि 80,000-90,000 होती है, उनको "सैल कम" कहकर डरा दिया जाता है और इसके इलाज के लिए ग्लूकोज़ लगाना ज़रूरी बताया जाता है जो सरेआम धोखाधड़ी है, लूट है और डॉक्टरी विज्ञान के पूरी तरह से उलट है। जिस मरीज के भी प्लेटलेट कम होते हैं उसे डेंगू का नाम लेकर डरा दिया जाता है।

कब-कब कम होते हैं "सैल"?

सैल यानि 'प्लेटलेट' न सिर्फ डेंगू में, मगर और भी बहुत से बुखारों में भी कम हो जाते हैं जिन में चिकनगुन्या बुखार, खसरा, चिकनपाक्स, टाईफाइड और कई किस्म के वाइरल बुखार शामिल हैं। यहाँ तक कि बहुत से मामलों में तो एक आम सर्दी-जुकाम भी "सैल" कम कर सकता है। बहुत सी दवाएँ भी ऐसी हैं जो 'प्लेटलेट' कम कर देती हैं। इसलिए सैल कम होने का मतलब डेंगू बिलकुल भी नहीं है, और तो और, सैल कम होने के बहुत कम मामलों में मरीज़ को डेंगू होता है। बुखार के हर मरीज़ का तो टेस्ट करवाना भी ज़रूरी नहीं होता, एक पढ़ा-लिखा डॉक्टर (बशर्ते कि वो अपनी पढ़ाई का इस्तेमाल करता हो और उसकी नजर मरीज़ पर हो, न कि मरीज़ की जेब पर) आसानी से पता लगा लेता है कि किस-किस मरीज़ को टेस्ट की ज़रूरत है, कब ज़रूरत है और कितनी बार टेस्ट करवाने की ज़रूरत है। असल में, डेंगू के सीज़न में टेस्ट करवाने के पीछे मेडिकल ज़रूरत कम, मरीज़ को डराने तथा पैसे बनाने की ज़रूरत ज्यादा होती है। और वैसे भी, डॉक्टरों का लैबोरेट्री से आधा-आधा हिस्सा बँधा होता है, ऐसा ही एक मामला टाईफाइड के एक टेस्ट का भी है, जिसका नाम है "विडाल टेस्ट"। इसकी रिपोर्ट पॉज़िटिव बताकर ग्लूकोज़ और तरह-तरह के टीके लगाकर लोगों की अच्छी-खासी लूट होती है। असल में यह टेस्ट अक्सर किसी भी बुखार में पॉज़िटिव आ जाता है, और एक बार टाईफाइड होने पर लम्बे समय तक यहाँ तक कि एक साल तक भी पॉज़िटिव बना रहता है। इतना ही नहीं, भारत में बहुत से लोगों में यह टेस्ट ऐसे ही पॉज़िटिव आ जाता है। इस टेस्ट को विदेशों में तो किया ही नहीं जाता, और भारत में भी जब इसका इस्तेमाल होता है तो इस टेस्ट को कैसे देखना है, यह सिर्फ डॉक्टरी की पढ़ाई तथा ट्रेनिंग हासिल किये हुए डॉक्टर ही जानते हैं। इसलिए इस लूट तथा धोखाधड़ी से भी सावधान!

डेंगू के लक्षण क्या हैं?

पहली बात तो यह कि अगस्त-नवम्बर के दौरान होने वाले सभी बुखार डेंगू नहीं होते, इन में से बहुत थोड़े ही डेंगू के मामले होते हैं। बाकी बुखार और कई किस्म के वायरल बुखार होते हैं और मज़दूर-ग़रीब इलाकों में टाईफाइड तथा मलेरिया भी बुखार का कारण हो सकते हैं। डेंगू बुखार एक किस्म के मच्छर के काटने से फैलता है जो दिन में काटता है और साफ रुके

(पेज 5 पर जारी से आगे)

पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में दिमागी बुखार: 35 वर्ष से जारी है मौत का ताण्डव

पूरे देश के लिए जहाँ मानसून अच्छी फसल की उम्मीद लेकर आती है, वहीं पूर्वी उत्तरप्रदेश के गोरखपुर, कुशीनगर, देवरिया तथा बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर, गया ज़िलों और उनके आसपास के इलाके के लिए मानसून मौत की काली परछाईं अपने पीछे लेकर आती है। दिमागी बुखार की बीमारी 1978 से लगातार हर साल मानसून के साथ मौत बनकर इन इलाकों में आती है और घरों में छोड़ जाती है बच्चों की लाशें और रोते-बिलखते माँ-बाप! हर साल इन इलाकों में यह बीमारी सैकड़ों लोगों को जिनमें 2-15 वर्ष की आयु के बच्चे ही ज़्यादा होते हैं, निगल जाती है और इससे कई गुना ज़्यादा को सारी उम्र के लिए अपंग बना देती है।

इस साल यानि 2013 में अक्टूबर महीने के पहले सप्ताह तक, अलग-अलग रिपोर्टों के मुताबक सिर्फ उत्तर प्रदेश के गोरखपुर और आसपास के इलाकों में ही 350-500 मौतें हो चुकी है और 2,000 से ऊपर लोग जिनमें अधिकांश बच्चे हैं, इस बीमारी का शिकार हो चुके हैं। यह बीमारी नवम्बर महीने के आख़िर तक चलती है, इस तरह अभी बीमारी के दो महीने बाकी हैं और मौतों तथा मरीज़ों की संख्या और बढ़ेगी। ये सरकारी आँकड़े हैं, मतलब ये वे मौतें है जो सरकारी अस्पतालों में हुई हैं। कितने लोग प्राइवेट अस्पतालों में मरे और प्राइवेट अस्पतालों में भर्ती हैं, तथा कितने लोग अपने घरों-गाँवों में बिना इलाज के मर गये हैं, इनकी अभी कोई गिनती नहीं है, और यह गिनती कभी होती भी नहीं है। बिहार में भी स्थिति यही है, वहाँ भी मौतों की संख्या 100 से ऊपर है। पिछले साल, 2012 में भी यही कहानी थी। उत्तरप्रदेश में मौतों की संख्या 500 से ऊपर थी और बिहार में 250 से ज्यादा लोग इस बीमारी से मौत के मुँह जा पड़े थे। हर साल यही कहानी दुहराई जाती है। अगर 1978 से लेकर अब तक मौतों की बात करें तो सरकारी आँकड़ों के मुताबिक ही लगभग 35,000 मौतें हो चुकी है। मगर, गैर-सरकारी स्रोतों के मुताबक मौतों की संख्या 50,000 से भी ज़्यादा है। मगर सबसे बड़ी बात यह है कि ये बीमारी से होने वाली मौतें नहीं, असल में यह तथाकथित चुनी हुई सरकारों और पूँजीवादी व्यवस्था के हाथों आम लोगों की सामूहिक हत्या है, क्योंकि चिकित्सा विज्ञान इस बीमारी के इलाज और रोकथाम में पूरी तरह सक्षम है। अगर सरकारें ऐसा करना चाहतीं तो हज़ारों मासूम बच्चों की बलि चढ़ने से रोकी जा सकती थी। सरकारों के लिए यह आज तक गम्भीर सवाल नहीं बना क्योंकि इस बीमारी से मरने वाले लगभग सभी लोग ग़रीबों के घरों के होते हैं। जिनके पास पैसे से अच्छा इलाज ख़रीद लेने की सुविधा है, वे अगर बीमारी की चपेट में आ भी गये, तो बच जाते हैं।

सरकारों के अपराध को छिपाने के लिए ही, इस बीमारी को हर साल "रहस्यमय बीमारी" कह दिया जाता है, हालाँकि इस बीमारी के बारे में बहुत कुछ ज्ञात है! 2005 तक दिमागी बुखार का मुख्य कारण जापानी बी एन्सेफलाइटिस वायरस था जो मच्छर के काटने से फैलता है, मगर 2005 के बाद इससे होने वाले दिमागी बुखार के मामलों में कमी आयी बतायी जा रही है (वैसे यह सरकारी बयान है)! 2005 के बाद होने वाले ज़्यादा मामले पानी और भोजन से फैलने वाले वायरस के कारण माने जा रहे हैं! एक तीसरा वायरस भी इस बुखार का कारण माना जा रहा है, जिसकी पिछले आठ वर्ष से पहचान ही नहीं हो पायी है!! जापानी बी एन्सेफलाइटिस के लिए वैक्सीन की खोज बहुत पहले हो चुकी है! जापान ने 1930 के दशक में ही इसकी वैक्सीन बना ली थी और लगातार वैक्सीन लगाने के अभियान चलाकर इस बीमारी को काबू में कर लिया था। लेकिन भारत में 2005 में भी इसी वायरस की वजह से 1000 से ऊपर मौतें हुईं, जबकि अब 1930 की वैक्सीन से कहीं बेहतर वैक्सीन वैज्ञानिक बना चुके हैं। इसके अलावा, आम लोगों में मच्छरों से बचाव की जानकारी का प्रचार करके बीमारी को काबू में किया जा सकता है। मच्छरदानी लगाकर सोना, मच्छरों के पलने की जगहों, जैसे रुका हुआ पानी, अँधेरे कोनों की सफाई, और मच्छरों को मारने के लिए दवा का छिड़काव आदि कई तरीके हैं जिनसे बीमारी को रोका जा सकता है। दूसरी किस्म के वायरस से होने वाले दिमागी बुखार को पीने के लिए साफ-स्वच्छ पानी के प्रबन्ध से बड़ी हद तक नियंत्रित किया जा सकता है। इसके साथ ही घरों में भोजन तथा पानी को रखने के तरीकों के बारे में आम लोगों को जानकारी देना भी ज़रूरी है। साथ ही साथ, बीमार होने वाले लोगों के लिए मानसून शुरू होने से पहले बाकायदा स्वास्थ्य सुविधाओं का पुख्ता प्रबन्ध करने से मरीज़ों की जान बचायी जा सकती है। मगर यह सब तभी सम्भव है अगर सरकारों का आम लोगों की तरफ कोई ध्यान हो।

"दलित की बेटी" मायावती की सरकार एक पार्क बनाने पर 685 करोड़ रुपये खर्च करती है, लेकिन जिस बीमारी से इतने लोग मौत के मुँह में जाते हैं उसके इलाज तथा फैलने से रोकने के लिए उसी साल में महज़ 18 करोड़ रुपये का बजट देती है! "समाजवादी" अखिलेश यादव का भी यही हाल है। पिछले साल ये महोदय ऐलान करके आए थे कि गोरखपुर में इस बीमारी के इलाज के लिए करोड़ों की लागत से 'एडवांस' केन्द्र स्थापित किया जायेगा, मगर हालत इस साल फिर वही है, गोरखपुर के मेडिकल कालेज में एक-एक बेड पर 3-3, 4-4 बच्चे लेटे हैं। जब मेडिकल कालेज में यह हाल है तो गाँवों-देहात में स्वास्थ्य ढाँचे का क्या हाल होगा, सोचा ही जा सकता है। 2011 में केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री गुलाम नबी आज़ाद गोरखपुर पधारे और आनन-फानन में इस बीमारी को रोकने के लिए 4000 करोड़ रुपये देने का ऐलान कर गये। दो साल बीत चुके हैं, 4000 करोड़ का क्या हुआ, किसी को कुछ पता नहीं!! अब, बिहार के विकास पुरुष "नीतीश बाबू" की बात कर लें। ये जनाब तो केन्द्र सरकार की तरफ से भेजे गए फंड को भी इस्तेमाल करने में भी असमर्थ हैं और हर साल ऐलान करते हैं कि अगले साल तक बीमारी को पूरी तरह काबू में कर लिया जायेगा। बीमारी हर साल कहर बरपा करती है मगर इस मामले में "सुशासन" बाबू भी उतने ही ढीठ हैं जितने लालू जी थे। फिर शुरू होती है 'राजनीति', राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार पर इलज़ाम लगाती हैं और केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों पर, मगर आम लोग हर साल वैसे ही मरते रहते हैं। बात साफ है कि इस लुटेरी पूँजीवादी व्यवस्था में आम मेहनतकश लोग नेताओं, अफसरशाही के लिए सिर्फ ऐसी "भीड़" हैं जो खेतों में अपनी उम्र खपाकर अमीरों का पेट भरने के लिए अनाज पैदा करते हैं, या फिर मशीनों के पुर्ज़े हैं जो मुनाफ़ा कमाने का जरिया हैं, और या फिर गुलाम हैं जो अमीरों के घरों में साफ-सफाई करते हैं तथा उनकी हर तरह से सेवा करते हैं। इस भीड़ से, मशीन के पुर्जों से, गुलामों में से दो-चार हज़ार मर जायें या अपंग हो जायें, तो इससे पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी यानि "लोकतांत्रिक" सरकार को कुछ फर्क नहीं पड़ता, चाहे वह किसी भी पार्टी की हो। हाँ, अमीरों के शहरी इलाकों की सुन्दरता का पूरा ख्याल करना इनका असली काम है। ग़रीबों, आम लोगों के इलाकों में फैलती बीमारियों को रोकने का अगर ये थोड़ा-बहुत इन्तज़ाम करते भी हैं, तो इसलिए नहीं कि इनको आम लोगों की फिक्र सता रही होती है, बल्कि तब करते हैं कि जब इन बीमारियों के ज़्यादा फैलने से अमीरों की मुलायम चमड़ी पर मच्छर का डंक लगने का ख़तरा खड़ा हो जाता है।

– डॉ. अमृतपाल

रहे-सहे श्रम अधिकारों के सफ़ाये की तेज़ होती कोशिशें

बीती 26 सितम्बर को अखबारों में एक खबर प्रकाशित हुई कि केन्द्र सरकार तेल कम्पनियों को समन्दर में चल रहे काम के लिए आठ घण्टे दिहाड़ी और साप्ताहिक कम से कम एक छुट्टी से सम्बन्धित कानून लागू करने की मज़बूरी से आजाद करने जा रही है। इसके लिए सरकार संसद में कोई कानून पास नहीं करेगी बल्कि एक कार्यकारी आदेश जारी करके ऐसा किया जायेगा। नए नियम के मुताबिक तेल कम्पनियाँ समन्दर में चल रहे कामों में लगे मजदूरों के काम के घण्टे और साप्ताहिक छुट्टी सम्बन्धी नियम खुद तय कर सकेगी। यह बदलाव इस बहाने से किया जा रहा है कि समन्दर पर काम कर रहे मज़दूरों के लिए हर सप्ताह काम की जगह छोड़कर जाना सम्भव नहीं होता और साप्ताहिक छुट्टी का उन्हें कोई फायदा नहीं होता क्योंकि उनके परिवार वहाँ नहीं होते। पहली बात तो यह कि आराम, मनोरंजन और अन्य कामों के लिए मज़दूरों को रोजाना समय मिलना चाहिए और साप्ताहिक तौर पर कम से कम एक छुट्टी मिलनी ही चाहिए। साप्ताहिक छुट्टी की जरूरत सिर्फ परिवार के साथ समय बिताने के लिए ही नहीं होती। दूसरी बात यह कि मज़दूरों के लिए छुट्टी बिताने की कम्पनी द्वारा व्यवस्था की जानी मज़दूरों का एक मानवीय अधिकार है और ऐसा करना तेल कम्पनियों के लिए कोई मुश्किल काम भी नहीं है। इन बेसिर-पैर के बहानों के तले सरकार तेल कम्पनियों के मज़दूरों पर काम का बोझ अमानवीय हद तक लादने को कानूनी जामा ही पहनाने जा रही है। असल में तो ये कम्पनियाँ पहले ही कानूनों की अवहेलना कर रही हैं। जो पहले से हो रहा है, अब तो बस उसे कानूनी मान्यता देने की कवायद हो रही है।

इस देश में बहुत ही कम मज़दूरों को कानून श्रम अधिकारों का लाभ मिल रहा है। देश में 93 प्रतिशत मज़दूर वे हैं जो गैर-रस्मी क्षेत्र में काम करते हैं यानि इन मज़दूरों को कानूनी श्रम अधिकार हासिल नहीं हैं। देश भर में पूँजीपतियों द्वारा आठ घण्टे कार्यदिवस, न्यूनतम वेतन, ई.पी.एफ., ई.एस.आई., साप्ताहिक, त्योहारों, बीमारी आदि से सम्बन्धित छुट्टियों, विभिन्न तरह के भत्तों, कारखानों में हादसों व बीमारियों से बचाव के लिए सुरक्षा इंतजाम, हादसे या बीमारी की सूरत में मुआवजा, स्त्री मज़दूरों के अधिकारों आदि सम्बन्धी श्रम कानूनों को लागू नहीं किया जा रहा। श्रम कानून भले ही ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों से सम्बन्धित हों, भले ही खदानों में काम करने वाले मज़दूरों से सम्बन्धित, या भले ही दुकानों पर काम करने वाले मज़दूरों से सम्बन्धित हों हर तरह के श्रम कानूनों की पूँजीपति सरेआम धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। देश में बनाए जा रहे विशेष आर्थिक क्षेत्रों में कानूनी तौर पर पूँजीपतियों की श्रम कानून लागू न करने की छूट है। असल में तो पूरा देश ही एक विशेष आर्थिक क्षेत्र बन चुका है।

लेकिन पूँजीपति अपने रास्ते से सारी अड़चनें हटा देना चाहते हैं। उन्हें कागजों पर रह गए श्रम कानून भी चुभ रहे हैं। आज देश के कोने-कोने से मजदूरों द्वारा श्रम कानून लागू करने की आवाज उठ रही है हालांकि संगठित ताकत की कमी के कारण मज़दूर मालिकों और सरकारी ढाँचें पर प्र्याप्त दबाव नहीं बना पाते। पूँजीपतियों को श्रम विभागों और श्रम न्यायालयों में मज़दूरों द्वारा की जाने वाली शिकायतों और केसों के कारण कुछ परेशानी झेलनी पड़ती है। इन कारणों से पूँजीपति वर्ग मज़दूरों के कानूनी श्रम अधिकारों का ही सफाया कर देना चाहता है।

पिछली सदी के अन्तिम दशक की शुरुआत के साथ भारत में उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण की नई आर्थिक नीति की शुरूआत हुई। ये ऐसा समय था जब विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था संकट से जूझ रही थी। विश्व पूँजीवाद के साथ साथ भारतीय पूँजीपतियों के मुनाफे भी सिकुड़ चुके थे। विकसित पूँजीवादी देशों के पूँजीपति वर्ग को जहाँ कच्चे माल, सस्ती श्रम शक्ति और विशाल मण्डियों की जरूरत थी वहीं भारत के पूँजीपति वर्ग को इन चीजों के साथ साथ उन्नत तकनीक और विदेशी पूँजी की जरूरत भी थी। पूँजी के निवेश के लिए देसी-विदेशी पूँजीपति वर्ग की यह फौरी जरूरत थी कि भारत में कानूनी श्रम अधिकारों को खत्म करके मुनाफे की राह से रूकावटें हटाई जाएँ। संवैधानिक स्तर पर उस समय ऐसा कर पाना सम्भव नहीं था। लेकिन कार्यस्थलों पर श्रम कानून लागू न करने की नीति अपनाई गई। श्रम विभागों और श्रम न्यायालयों में जजों, अधिकारियों तथा अन्य कर्मचारियों की संख्या घटाई जानी शुरू हो गई। भाकपा और माकपा जैसी संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टियों की अगुवाई वाली ट्रेड यूनियन लीडरशिप द्वारा मज़दूर आन्दोलन के साथ गद्दारी के कारण पूँजीपतियों की राह काफी आसान रही। इन ट्रेड यूनियनों में जहाँ कहीं कुछ ईमानदारी रही भी है वहाँ भी पूँजीपतियों के नए हमले के खिलाफ जुझारू ढंग से पेश आने के हौंसले की कमी रही। मज़दूर वर्ग के स्वयं:स्फूर्त आन्दोलन पूँजीवादी हुक्कमरानों के संगठित हमले का मुकाबला न तो कर पाए और न ही कर सकते थे। मज़दूर आन्दोलन पूँजीवादी हुक्कमरानों की नई आर्थिक नीतियों की रफ्तार कुछ हद तक ही धीमी कर पाया है। अब जो स्थिति बनी है वह सबके सामने है।

डेंगू – लोग बेहाल, "डॉक्टर" मालामाल और सरकार तमाशाई

(पेज 4 से आगे)

हुए पानी पर पलता है। इसके लक्षण होते हैं – सरदर्द और खास तौर पर आँखों के पीछे होने वाला सरदर्द, तेज़ बुखार, कई बार आँखें लाल होना, शरीर दर्द बहुत ज़्यादा होना खास तौर पर पीठ में जिसे "हड्डियाँ तोड़ने वाला" दर्द कहा जाता है। बुखार के सातवें दिन चमड़ी पर एक ख़ास किस्म के छोटे-छोटे लाल धब्बे पेट से बनने शुरू होते हैं और टाँगों, बाज़ुओं तथा चेहरे तक फैल जाते हैं। जहाँ भी डेंगू बुखार होने का अंदेशा होता है, उस मरीज़ का डेंगू का टेस्ट करवाना होता है ताकि यह तय हो सके कि मरीज़ को डेंगू है या नहीं। लेकिन यहाँ उल्टा होता है, डेंगू का टेस्ट करवाया नहीं जाता (जो महँगा भी है, लगभग 1000-1500 रुपये), सिर्फ प्लेटलेट का टेस्ट करवाकर डेंगू होने का ऐलान कर दिया जाता है। दूसरा, डेंगू बुखार का खतरा सैल कम होना नहीं है, बल्कि इसका ख़तरा इस में है कि डेंगू बुखार के कुछ मामले डेंगू हेमोरेजिक फीवर तथा डेंगू शॉक सिंड्रोम तक चले जाते हैं। ऐसे मरीज़ों में, चमड़ी के नीचे, आँत से या शरीर के किसी और हिस्से में ख़ून का रिसाव शुरू हो जाता है। ऐसे मरीज़ों को डाक्टर अपनी क्लीनिक में ही "टारनीक्यूएट टेस्ट" से या फिर चमड़ी पर पड़े लाल धब्बों से भी कुछ हद तक पहचान सकता है। ज़्यादा गम्भीर मामलों में, ब्लडप्रेशर कम होना, नब्ज़ तेज चलना, फेफड़ों तथा पेट में पानी भरना, जिगर का बड़ा हो जाना, चमड़ी के नीचे ख़ून के रिसाव से बड़े-बड़े धब्बे बनना, आँत से ख़ून का बहना शामिल हैं। ऐसे मरीज़ों को ही ग्लूकोज़ की ज़रूरत होती है और साथ में आक्सीजन तथा दूसरी डॉक्टरी देखभाल की भी ज़रूरत होती है जो अच्छे-बड़े अस्पताल में ही सम्भव है। यह भी एक तथ्य है कि डेंगू हेमोरेजिक फीवर तथा डेंगू शॉक सिंड्रोम के मरीज़ों की पहचान, इलाज तथा निगरानी के लिए प्लेटलेट संख्या एकमात्र पैमाना नहीं है और न ही सबसे अच्छा पैमाना है। इसके अलावा और भी कई पैमाने हैं जो प्लेटलेट की संख्या के पैमाने से बेहतर माने जाते हैं।

ऐसे बुखारों का इलाज कैसे हो?

जिस मरीज़ में डेंगू के लक्षण नहीं है और हल्का या थोड़ा ज़्यादा सरदर्द, शरीर दर्द, बुखार तथा सर्दी-ज़ुकाम हो, या फिर डेंगू हेमोरेजिक फीवर तथा डेंगू शॉक सिंड्रोम के बिना डेंगू हो तो आम तौर पर सिर्फ क्रोसीन (पैरासिटामोल) की गोली से ही काम चल जाता है। साथ में कुछ दिनों का आराम, अच्छा भोजन तथा काफी मात्रा में पानी ख़ास तौर पर नींबू पानी काफी होता है। सैलों की संख्या 50,000 से ऊपर हो तो, इतने इलाज से मरीज़ ठीक हो जाता है। सैल कम होने पर सरदर्द तथा शरीरदर्द के लिए आम इस्तेमाल होने वाली दर्द की दवाएँ नहीं लेनी चाहिए क्योंकि ये नुक्सान कर सकती हैं।

ग्लूकोज़ कब लगाया जाता है?

डेंगू बुखार में ग्लूकोज कब लगाया जाता है, इसकी बात ऊपर आ ही चुकी है। झोला-छाप डॉक्टरों, कैमिस्टों तथा छोटी क्लीनिकों में ग्लूकोज़ लगाना दो तरह से ग़लत है। पहली बात तो यह कि ये लोग ग्लूकोज़ तब लगाते हैं जब मरीज़ को इसकी कोई ज़रूरत होती ही नहीं, और दूसरी बात यह कि, जब किसी मरीज़ को ग्लूकोज़ लगाने की ज़रूरत पड़ेगी तो ऐसी जगहों पर ऐसे गम्भीर मरीज़ों का इलाज सम्भव ही नहीं है क्योंकि तब मरीज़ को ग्लूकोज़ के अलावा और भी बहुत सारी डॉक्टरी देखभाल तथा निगरानी की ज़रूरत होती है जो ये लोग मरीज़ को दे ही नहीं सकते। इस तरह इन लोगों द्वारा डेंगू के नाम पर ग्लूकोज़ लगाना पूरी तरह लूट का कारोबार है। किसी भी बुखार, दस्त, पेचिश में भी बिना किसी मेडिकल ज़रूरत के ग्लूकोज़ लगाना आम बात है, यह भी लूट और धोखाधड़ी है। ग्लूकोज़ आम तौर पर सिर्फ तब लगाया जाता है जब आदमी का ब्लडप्रेशर इतना कम हो कि ओ.आर.एस. के घोल या फिर घर में बनाये जा सकने वाले नमक-चीनी के घोल से न बढ़ सकता हो, मरीज़ बेहोश हो, मरीज़ को बहुत ज्यादा उल्टियाँ आ रही हो जिसकी वजह से उसको मुँह से कुछ भी खाने-पीने में दिक्कत आ रही हो। और तो और, गली-मुहल्ले में बैठे कई "डॉक्टर" मरीज़ में "ताकत डालने" के लिए ही ग्लूकोज़ लगा देते हैं, जो कि सरासर ग़लत है। असल में ग्लूकोज़ के बारे में लोगों को जानकारी ही नहीं है कि यह है क्या? ग्लूकोज़ और कुछ नहीं, सिर्फ चीनी-नमक की खास मात्रा (कई बार तो सिर्फ चीनी ही) का पानी की ख़ास मात्रा में बनाया घोल है जो बोतल में पैक रहता है। इसके अलावा, ग्लूकोज़ की एक किस्म में नींबू में मिलने वाला पोटाशियम रहता है। बस यही है ग्लूकोज़ का रहस्य जिसको इधर-उधर बैठे झोला-छाप डॉक्टर शरीर में ताकत भरने वाली दवा बनाकर पेश करते हैं और मज़दूरों से मोटी रकम वसूलते हैं। ज़रूरत पड़ने पर, यह घोल वैसे ही पिया जा सकता है, और मुँह से पीने से इसका फ़ायदा भी ज़्यादा होता है।

सरकारें क्या कर रही हैं?

सही-सही कहा जाये तो सरकारें डेंगू की बीमारी और इसका ख़ौफ़ फैलने में तथा "डॉक्टरों" को "कमाई" करने में उनकी खूब मदद कर रही हैं। सरकार का काम है कि वह लोगों को बीमारी के बारे में सही जानकारी दे और बीमारी होने से रोकने के इन्तज़ाम करे, सरकार इनमें से कोई भी काम नहीं करती। इसका मतलब है कि बीमारी फैलने तथा लोगों की बदहाली और लूट में सरकार पूरी तरह से शामिल है। जानकारी के नाम पर कुछ पर्चे इधर-उधर दो-चार जगह चिपका दिये जाते हैं जो एक तो वैसे ही छोटे-छोटे होते हैं और ऊपर से अक्षरों का आकार इतना छोटा होता है कि बहुत नजदीक से पता चलता है कि अरे, यह तो डेंगू के बारे में "सरकारी" जानकारी है!! मच्छर मारने के लिए फॉगिंग करना तो सरकारें भूल ही चुकी हैं, खासकर ग़रीबों और मज़दूरों के इलाके में। झोला-छाप डाक्टरों और कैमिस्टों की (और "पढ़े-लिखे डॉक्टरों" की भी) मचाई लूट को स्वास्थ्य विभाग रोक ही कैसे सकता है क्योंकि इससे स्वास्थ्य विभाग के अफसरों और कर्मचारियों की कमाई भी बन्द हो जायेगी। बीमारी फैलने पर इससे निपटने के लिए अस्थायी क्लिनिक, डिस्पेंसरी और डेंगू तथा प्लेटलेट टेस्ट करने की सस्ती या नि:शुल्क सुविधा देने के लिए अस्थायी लैबोरेट्री बनायी जा सकती हैं, और साथ ही ऐसे समय में प्रभावित इलाकों में डॉक्टर तथा अन्य स्वास्थ्य कर्मियों की ड्यूटी भी लगनी चाहिए। मगर यह सम्भव नहीं क्योंकि एक तो सरकार चाहती ही नहीं, और दूसरे उसके पास आम लोगों के लिए खज़ाने में पैसा ही नहीं होता, क्योंकि पैसा तो सारा पूँजीपतियों की तिजोरियों तथा नेताओं-अफसरों की जेबों में चला जाता है। दूसरा, बहुत से डॉक्टर भी नहीं चाहेंगे कि उनको ग़रीबों की बस्तियों में जाकर रातें बितानी पड़ें। मामला साफ है कि डेंगू की बीमारी तथा डेंगू का ख़ौफ़ लोगों में फैलता रहेगा जब तक आम मेहनतकश लोग खुद एकजुट होकर सरकार और स्वास्थ्य विभाग को होश में लाने के लिए "ग्लूकोज़" नहीं लगायेंगे। एक बात और, डेंगू तथा इस से जुड़ा हुआ पूरा मामला एक बार फिर यह दिखलाता है कि पूँजीवाद में इलाज का उद्देश्य मुनाफा कमाना है और चिकित्सा विज्ञान मुनाफ़ाख़ोरों की रखैल बन चुकी है। जो विज्ञान पूरी मानवता के लिए है, वह कुछ लोगों के लिए बना दिया गया है। यही है जो पूँजीवाद आज मानवता को दे सकता है, अपनी ढेर सारी बुराइयाँ, और जो अच्छी चीजें थी, उनको भी इस आदमखोर व्यवस्था ने उलट रूप में बदल दिया है। पूँजीवाद का ख़ात्मा आज चिकित्सा विज्ञान को बचाने का ही नहीं, पूरे विज्ञान को बचाने का सवाल भी बन चुका है।

कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किसकी सेवा करता है (तेईसवीं क़िस्त)

● आनन्द सिंह

इस धारावाहिक लेख की चार क़िस्तें 'मज़दूर बिगुल' के पूर्ववर्ती 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में प्रकाशित हुई थी। इसकी पहली बारह क़िस्तों के लेखक आलोक रंजन हैं। – सम्पादक

इस लोकतन्त्र के तीसरे और चौथे खम्भे यानी न्यायपालिका और मीडिया की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की असलियत

भारतीय लोकतन्त्र के दो प्रमुख स्तम्भों विधायिका और कार्यपालिका के जनविरोधी चरित्र का तो बहुत पहले ही पर्दाफ़ाश हो चुका था, परन्तु इसके तीसरे स्तम्भ – न्यायपालिका और तथाकथित चौथे स्तम्भ – मीडिया के चरित्र के बारे में अभी भी तमाम लोग गफ़लत में हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि न्यायपालिका और मीडिया के बारे में लोगों के दिलो-दिमाग़ में यह बात बैठा दी गयी है कि ये संस्थाएँ स्वतन्त्र और निष्पक्ष हैं और इनकी मौजूदगी से सरकार और संसद की ज़्यादतियों पर नियन्त्रण रहता है। हालाँकि पिछले कुछ वर्षों में तमाम ऐसे काण्ड और घपले-घोटाले सामने आये हैं जिनके बाद भारतीय राज्यसत्ता की इन दो संस्थाओं की साख़ पर भी बट्टा लगा है, परन्तु साथ ही साथ इन दो संस्थाओं द्वारा अपनी साख को पुर्नस्थापित करने की क़वायद भी जारी है। ऐसे समय में जब न्यायपालिका के नीचे से लेकर शीर्ष तक भ्रष्टाचार में डूबे होने की बातें सामने आने से लोगों का विश्वास डगमगा रहा था, न्यायपालिका ने हाल में कुछ प्रगतिशील दिखने वाले फैसले दिये हैं (मसलन दागी नेताओं से सम्बन्धित फैसला और 'राइट-टू-रिजेक्ट' यानी ख़ारिज करने के अधिकार से सम्बन्धित फैसला) जिनके बाद से जनता के अच्छे-खासे हिस्से में एक बार फिर इस तथाकथित लोकतन्त्र के प्रति खोयी हुई उम्मीद जाग गयी है। इसी तरह राडिया टेपकाण्ड, जी न्यूज़ प्रकरण और पेड न्यूज़ परिघटना के सामने आने के बाद मीडिया भी अपनी आत्मालोचना का ढोंग रचकर और तमाम नकली जनान्दोलनों की कवरेज करके अपने दामन पर लगे गहरे धब्बों को साफ़ करने में जुट गया है। ऐसे में इस सच्चाई को सामने लाना बेहद ज़रूरी है कि स्वतन्त्रता और निष्पक्षता का ढोंग करने वाली ये संस्थाएँ भी किस तरह से शोषण और उत्पीड़न पर टिकी मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था को और गहराई से स्थापित करने का काम करती है और इसलिए अपने चरित्र से ये जनविरोधी हैं।

भारतीय संविधान में न्यायपालिका को संविधान का संरक्षक बताया गया है। यानी न्यायपालिका एक ऐसे संविधान की संरक्षक है जो निजी सम्पत्ति की इंच-इंच हिफ़ाज़त करने के लिए प्रतिबद्ध है। यही वजह है कि पूँजी और श्रम के बीच जारी संघर्ष में न्यायपालिका के अधिकांश फैसले पूँजी के पक्ष में होते हैं। न्यायपालिका प्राकृतिक न्याय पर टिके होने का कितना भी दम भरे, सच्चाई तो यह है कि यह बुर्जुआ न्याय पर टिकी होती है जिसके अनुसार मुट्ठीभर पूँजीपतियों द्वारा मेहनत-मज़दूरी करने वाली देश की बहुसंख्यक आबादी की मेहनत की लूट, शोषण और उत्पीड़न न्यायसंगत है। कोई भी न्यायशील इंसान अपने सहजबोध से इसी नतीजे पर पहुँचेगा कि किसी समाज में परजीवियों की एक छोटी सी जमात द्वारा मेहनत की लूट से विलासिता भरी ज़िन्दगी बिताना और मेहनतकशों का दरिद्रता भरा जीवन एक घोर अन्याय है। परन्तु बुर्जुआ न्यायप्रणाली के तहत इसमें कुछ भी ग़लत नहीं है। न्यायपालिका का काम महज़ इतना है कि मेहनत की जो लूट इस पूँजीवादी व्यवस्था में हो रही है, वह क़ानून के दायरे में हो। यहाँ तक कि इस लूट के परिमाण को और ज़्यादा भी बढ़ाना हो तो न्यायपालिका को उससे कोई गुरेज़ नहीं है, बशर्ते उसके लिए क़ानून में ज़रूरी संशोधन किये जायें।

भारतीय संविधान में जो थोड़े-बहुत अधिकार जनता को दिये गये हैं उनकी हिफ़ाज़त करने में भी भारतीय न्यायपालिका निहायत ही अक्षम साबित हुई है। ज्ञात हो कि भारतीय पूँजीवादी राज्य को एक नग्न फासिस्ट तानाशाही में तब्दील करने वाले आपातकाल को न्यायपालिका ने न्यायसंगत ठहराया था। इस धारावाहिक लेख में हम पहले ही यह चर्चा कर चुके हैं कि किस तरह संवैधानिक उपचार जनता की पहुँच से बाहर हैं। समाज के अन्य क्षेत्रों की तरह न्यायपालिका में भी पैसे वालों की तूती बोलती है। अगर आपके पास पैसा है तो जघन्य से जघन्यतम अपराध करने के बावजूद क़ानून की आँखों में धूल झोंककर बाइज़्ज़त बरी हो सकते हैं क्योंकि तब आप राम जेठमलानी, कपिल सिब्बल, अरुण जेटली और हरीश साल्वे सरीखे वकीलों की सेवाएँ ख़रीद सकते हैं जिन्हें पहले से ही धनिकों के पक्ष में झुके बुर्जुआ क़ानून को पूरी तरह उनके पक्ष में करने में महारत हासिल है। इसकी एक ज़िन्दा मिसाल हाल ही में बिहार के लक्ष्मणपुर बाथे मामले में देखने में आयी जिसमें पटना उच्च न्यायालय ने 27 महिलाओं और 15 बच्चों सहित 58 निर्दोष दलितों के बर्बर नरसंहार के मुकदमे में सभी 26 अभियुक्तों को बरी कर दिया। इसी तरह भोपाल गैस त्रासदी, 1984 के सिख विरोधी दंगे, 2002 के गुजरात दंगों को अंजाम देने वाले मुख्य अपराधियों का न्यायपालिका कुछ भी न बिगाड़ पायी। इसी तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इस देश में न्याय प्रक्रिया के सुस्त और लचर होने और ग़रीबी की वजह से लाखों निर्दोष अण्डरट्रायल के रूप में जेलों में सड़ रहे हैं। इस देश की विभिन्न अदालतों में लगभग 3 करोड़ मुकदमे लम्बित हैं। एक आकलन के मुताबिक यदि भारतीय न्याय व्यवस्था इसी रफ़्तार से फैसले देती रहे तो उसे कुल लम्बित मामलों का निपटारा करने में 320 साल लग जायेंगे।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों की चर्चा के दौरान हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार भारतीय राज्य नव-उदारवादी नीतियों के तहत एक-एक करके अपने वायदों से मुकरता जा रहा है और किस प्रकार इन सिद्धान्तों की धज्जियाँ खुद इस व्यवस्था के पैरोकार ही उड़ाते हैं। इसके बावजूद संविधान की संरक्षक न्यायपालिका न सिर्फ़ चुप्पी साधे रही बल्कि कई मामलों में तो उसने इन नीतियों के पक्ष में अपने फैसले दिये। इस दौर में मुनाफ़े की अन्धी हवस की ख़ातिर श्रम क़ानूनों को ज़्यादा से ज़्यादा लचीला और लचर बनाने की साज़िश के ख़िलाफ़ भी न्यायपालिका ने चूँ तक नहीं की। यह बात सर्वविदित है कि इस देश में मौजूदा श्रम क़ानून भी देश के किसी भी हिस्से में नहीं लागू होते। परन्तु न्यायपालिका को श्रम क़ानूनों को लागू करने के मामले में क़ानून के संरक्षक की भूमिका याद नहीं रहती जिससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि दरअसल यह शासक वर्गों के हितों का संरक्षण करती है। यही वजह है कि न्यायपालिका के फैसले अमूमन मज़दूरों के ख़िलाफ़ ही जाते हैं। मारुति मज़दूरों के हालिया आन्दोलन में गिरफ़्तार मज़दूरों की जमानत ठुकराते हुए न्यायधीश महोदय ने यह तर्क दिया कि मज़दूरों को ज़मानत पर रिहा करने से देश के भावी निवेशकों को एक गलत सन्देश जायेगा। साफ़ है कि इस देश में न्यायपालिका अब खुलेआम पूँजी के हित में काम कर रही है।

कुछ दशकों पहले तक न्यायपालिका की छवि एक बेदाग़ संस्था के रूप में थी जो समाज की रोम-रोम में फैले भ्रष्टाचार से सापेक्षत: मुक्त थी। लेकिन कुछ वर्षों पहले सर्वोच्च न्यायालय के ही तत्कालीन मुख्य न्यायधीश एस. पी. भरूचा ने यह माना था कि सर्वोच्च न्यायालय के लगभग बीस फ़ीसदी न्यायधीश भ्रष्ट हैं। लेकिन तब से अब तक भ्रष्टाचार की गटरगंगा में काफी पानी बह चुका है। अब तो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों तक की भ्रष्टाचार में संलिप्तता की बातें सामने आ रही हैं। अभी हाल ही में पूर्व क़ानून मन्त्री शान्ति भूषण ने यह खुलासा किया था कि सर्वोच्च न्यायालय के पिछले 16 मुख्य न्यायधीशों में से 8 भ्रष्ट कार्रवाइयों में लिप्त थे।

आइये अब भारतीय लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ माने जाने वाले मीडिया की असलियत जानते हैं। मीडिया को आमतौर पर राज्यसत्ता से स्वतन्त्र एक निष्पक्ष संस्था के रूप में प्रचारित किया जाता है और हमें यह बताया जाता है कि लोकतन्त्र में जनता की आवाज़ उठाने में मीडिया एक सशक्त भूमिका अदा करता है। लेकिन इस शोरगुल में अक्सर यह बात दबा दी जाती है कि मीडिया के इस लगातार बढ़ते ताने-बाने पर मालिकाना हक़ किसके पास है। सच्चाई तो यह है कि इस देश के तमाम अख़बार और टी.वी. चैनलों में बड़े कॉरपोरेट घरानों की पूँजी लगी है। ज़ाहिर है कि ये घराने अपनी पूँजी जनता की आवाज़ उठाने के लिए नहीं लगाते। इनका मक़सद अकूत मुनाफ़ा कमाना तो होता ही है, लेकिन आज के दौर में मीडिया उससे भी ज़्यादा ख़तरनाक काम यह करता है कि वह समाज में शासक वर्गों के पक्ष में जनमत तैयार करता है। भिन्न-भिन्न तरीकों से मीडिया लोगों को यह बताता है कि तमाम कमियों के बावजूद पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है और इसलिए जनता को इसके विकल्प के बारे में सोचना छोड़कर इसे चुपचाप स्वीकार कर लेना चाहिए। मीडिया में मौजूद तमाम विश्लेषक कुल मिलाकर इस व्यवस्था के दायरे में कुछ सुधारों की पैरोकारी करते हैं ताकि इसके अमानवीय चेहरे को किसी तरह से ढका जा सके।

इस प्रकार मीडिया समाज में शासक वर्गों के वैचारिक और सांस्कृतिक वर्चस्व को गहराई से स्थापित करने का काम बखूबी अंजाम देता है। वह तमाम मुद्दों का विश्लेषण करने के लिए एक व्याख्यात्मक ढाँचा प्रस्तुत करता है, एक ऐसा व्याख्यात्मक ढाँचा जो देखने में तो रैडिकल लगे परन्तु वह समस्याओं की जड़ यानी पूँजीवादी व्यवस्था पर एक भी सवाल नहीं करता। मीडिया आमजन को शासक वर्ग के नज़रिये से चीजों को देखने की आदत डालता है। अपने दामन पर लगे धब्बों को साफ़ करने और अपने को निष्पक्ष साबित करने के लिए मीडिया आजकल आत्मालोचना का ढोंग भी रचता है।

मीडिया में अभिव्यक्ति की आज़ादी को लेकर लम्बी-चौड़ी बहसें आयोजित की जाती हैं। परन्तु इन बहसों में शामिल होने वाले पत्रकार हमें यह नहीं बताते कि वे सरकार से अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी की लड़ाई भले ही जीत लें पर मीडिया के कॉरपोरेटीकरण के इस युग में वे पूँजी की गुलामी से आज़ाद नहीं हो सकते। क्या इस सच्चाई से मुँह मोड़ा जा सकता है कि कॉरपोरेट मीडिया में काम करने वाले पत्रकार एक उजरती बौद्धिक मज़दूर हैं और सम्पादक का काम वही होता है जो कारख़ानों में सुपरवाइज़र का। कारख़ानों की तर्ज़ पर अब सूचना का उत्पादन करने वाले मीडिया घरानों में काम करने वाले पत्रकारों और मीडियाकर्मियों को भी दस-दस बारह-बारह घण्टे खटना पड़ता है और उसके बावजूद उनकी नौकरी की सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं रहती। हाल ही में मुकेश अम्बानी के मालिकाने वाले टीवी चैनल सीएनएन-आईबीएन से लगभग 350 पत्रकारों और मीडियाकर्मियों को बिना किसी पूर्व सूचना के निकाल दिया गया। इससे पहले महुवा टीवी चैनल, सारदा समूह और दैनिक भास्कर समूह से भी बड़े पैमाने पर छँटनी की ख़बरें सामने आयीं। ऐसे में यह अपेक्षा करना बेमानी है कि मीडिया जनता के हित में काम करेगा।

एक दौर था जब पत्रकारिता को एक उदात्त पेशा और सामाजिक बदलाव का अस्त्र माना जाता था। परन्तु मीडिया-तन्त्र पर पूँजी का शिकंजा कसने के साथ ही पत्रकारिता क्रमश: दलाली में तब्दील होती गयी। नीरा राडिया टेप काण्ड में यह साफ़ उभरकर आया कि किस तरह मीडिया जगत के नामी-गिरामी पत्रकार उद्योगपतियों और नेताओं के बीच बिचौलिये का काम करते हैं। ज़ी न्यूज़ प्रकरण के बाद यह सच्चाई उजागर हो चुकी है कि पत्रकार और सम्पादक किसी ख़बर को दिखाने या न दिखाने के लिए पूँजीपतियों से मोटी रकम वसूलते हैं। पेड न्यूज़ की पूरी परिघटना यह दिखाती है कि किस तरह पूँजीवादी मीडिया में ख़बरें भी साबुन, तेल, मंजन की तरह एक बिकाऊ माल बन चुकी हैं। ऐसे में यह भरोसा करना मुश्किल है कि जो ख़बरें हमें परोसी जा रही हैं वे पूँजीपति वर्ग के इस या उस खेमे द्वारा प्रायोजित नहीं हैं। ज़ाहिर है, पूँजी की ताक़त के बूते खड़ा मुख्य धारा का मीडिया पूँजी और श्रम के बीच जारी संघर्ष में श्रम का पक्ष ले ही नहीं सकता। श्रम का पक्ष तो ऐसा ही मीडिया ले सकता है जो मेहनतकशों के खून-पसीने की कमाई के दम पर टिका हो।

पूँजीवादी लोकतंत्र का फटा सुथन्ना और चुनावी सुधारों का पैबन्द

पिछले दिनों उच्चतम न्यायालय द्वारा चुनाव प्रणाली के सुधार से जुड़े दो फैसले काफी चर्चा में रहे हैं:

पहला, दो साल या उससे अधिक की सजा पाये हुए सांसदों-विधायकों की सदस्यता समाप्त करने से सम्बन्धित था। दूसरा, चुनाव में सभी प्रत्याशियों की नापसन्दगी की स्थिति में उन्हें नकारने के मतदाता के अधिकार के बारे में था।

ऊपरी तौर पर यह राजनीति के भ्रष्टीकरण को दुरुस्त करने की मंशा से उठाया गया कदम दिखता है लेकिन इसके असरकारी होने की कितनी सम्भावना हो सकती है या जनता के इस अधिकार से कितना बदलाव मुमकिन हो सकता है यह जानने के लिए पूँजीवादी राजनीति को समझना होगा जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की ही एक घनीभूत अभिव्यक्ति होती है।

पूँजीवादी जनतंत्र में सभी चुनावबाज़ पार्टियाँ किसी ऐसे ही शख़्स को उम्मीदवार बनाकर चुनावी वैतरणी पार कर सकती हैं जो येन-केन-प्रकारेण जीतने की गारण्टी देता हो। और चुनाव भी वही जीतता है जो आर्थिक रूप से ताक़तवर हो और पैसे या डण्डे के ज़ोर पर वोट ख़रीदने का दम रखता हो। या फिर धर्म और जाति के नाम पर लोगों को भड़काकर वोट आधारित उनके ध्रुवीकरण की साज़िश रचने में सिद्धहस्त हो। ज़ाहिर है ऐसी चुनावी राजनीति की बुनियाद अपराध पर ही टिकी रह सकती है। सभी बड़ी से लेकर छोटी पार्टियों के मंत्रियों और विधायकों पर या तो आपराधिक मुकदमे चल रहे हैं या वे आपराधिक पृष्ठभूमि से आते हैं।

यह समझना मुश्किल नहीं है कि विधायिका के दोषी सदस्यों की सदस्यता समाप्ति के अदालती फैसले के ख़िलाफ़ क्यों सत्तारूढ़ कांग्रेस को आनन-फ़ानन में विधेयक लाने की ज़रूरत पड़ गयी। मेडिकल कालेज भर्ती प्रकरण में फँसे राज्यसभा सांसद रशीद मसूद के ज़रिये पश्चिमी उत्तरप्रदेश में मुस्लिम वोटों पर कब्ज़ा करने और आड़े समय में हमेशा काम आने वाले राजद प्रमुख लालू यादव से तालमेल के ज़रिये बिहार में अपना वोट बैंक बढ़ाने की बदहवासी में कांग्रेस को किसी भी कीमत पर उनकी सदस्यता की दरकार थी जबकि फैसले की वजह से उन दोनों की सदस्यता जा सकती थी। महँगाई और बेरोज़गारी की मार से जनता का बढ़ता असन्तोष कहीं फूट न पड़े और आगामी चुनाव उसके लिए सत्ता से बेदखली का परवाना न बन जाये इस भय से वह इतनी त्रस्त थी कि विधेयक के पारित होने का इन्तज़ार भी उससे न हो सका और तत्काल ही उसने इसी आशय का अध्यादेश भी पेश कर दिया। हालाँकि यह सभी पार्टियों के लिए फ़ायदे का सौदा था लेकिन इससे कांग्रेस के लाभ उठाने की सम्भावना को देखते हुए सभी पार्टियों, ख़ासकर भाजपा ने विरोध की मुद्रा अख़्तियार कर ली। विरोध भी हो गया और लोकप्रियता हासिल करने का मौका भी मिल गया। राष्ट्रपति द्वारा

भी जब अध्यादेश के औचित्य पर सवाल उठाने से पासा पलट गया तो कांग्रेस भी अपने दुलारे उपाध्यक्ष राहुल गांधी के 'हीरो' बनकर उभरने और इसका श्रेय लेने की नौटंकी में जुट गयी। भाजपा तो इंसानियत के अपराधी नरेन्द्र मोदी को पहले से ही महानायक के तौर पर पेश कर उनकी ताजपोशी के लिए हर तरह का तिकड़म लगा रही है। अपने ही प्रान्त की मुसलमान जनता का बर्बर कत्लेआम कराने वाले मोदी को इसके बाद भी फाँसी के तख़्ते की जगह यदि तख्तो-ताज की पेशकश की जा रही हो तो समझा जा सकता है कि किसी अदालती फैसले या सुधारों का कोई अर्थ नहीं, ये सिर्फ हाथी के दिखाने वाले दाँत हैं। लोहे की खदानों से अवैध खनन के ज़रिये देश को अरबों रुपये का चूना लगाने वाले कर्नाटक के रेड्डी बन्धुओ और भ्रष्ट येदियुरप्पा को पार्टी में वापस लेने के लिए भाजपा आज भी तैयार बैठी है क्योंकि ये जिताऊ उम्मीदवार बनने की हैसियत रखते हैं। समाजवादी पार्टी में भी क्षत्रिय वोट पाने की जुगत में राजा भइया को फिर से मंत्रिमंडल में शामिल करने की उतावली है जिस पर अनेक गम्भीर अपराधों के साथ-साथ हाल में ही पुलिस अधिकारी ज़ियाउल हक की हत्या का आरोप है। चुनावी पैंतरेबाजों के सांसद या विधायक को दोषी और सज़ायाफ़्ता व्यक्ति के तौर पर संसद की सदस्यता छोड़नी ही पड़ती है तो उनके परिजनों को उम्मीदवारी दे दी जाती है। प्रत्यक्ष न सही राजकाज का सूत्र तो उसी व्यक्ति के हाथ में बना रहता है। बाबूसिंह कुशवाहा का उदाहरण सामने ही है। दोष सिद्ध होने पर वह सत्ता से बाहर हुए तो समाजवादी पार्टी ने बरास्ता श्रीमती कुशवाहा उनके हिस्से का वोट बटोरने का उपाय खोज लिया है। अगर वह जीत जाती हैं तो कहने की ज़रूरत नहीं कि सत्तासूत्र की कमान श्रीमान कुशवाहा के हाथों में रहेगी। यह सिर्फ अकेला मामला नहीं है। राजस्थान में भँवरी देवी मामले में यौन अपराध के दोषी पूर्व कांग्रेसी मंत्री महीपाल मदेरणा, पूर्व विधायक मलखान सिंह और हाल ही में खादी राज्य मंत्री रहे बाबूलाल नागर के परिजनों को कांग्रेस पार्टी भी उम्मीदवार बनाने की जोड़तोड़ में लगी हुई है।

इससे साफ है कि पूँजीवाद स्वयं ही राजनीति का अपराधीकरण करता है, उन्हें पालता-पोसता है। अत: किन्हीं भी चुनाव सुधारों का असली मकसद धोखे की टट्टी खड़ा करना ही हो सकता है। फिर चाहे वह दोषसिद्ध सांसदों और विधायकों की सदस्यता समाप्त करने के बारे में हो या फिर वह उम्मीदवारों को रिजेक्ट या अस्वीकार कर देने के मतदाता के अधिकार की बात करता हो। 'राइट टू रिजेक्ट' के ज़रिये सभी प्रत्याशियों के प्रति नापसन्दगी जताने और उन्हें नकार देने का एक विकल्प मतदाता को मिल जाता है, यदि यह बात मान भी ली जाये तो सबसे अहम सवाल यह उठता है कि सभी प्रत्याशियों को नकार कर 'इनमें से कोई नहीं' पर ठप्पा लगाने के बाद क्या अपराधी या जनविरोधी तत्वों के संसद-विधानसभाओं तक पहुँचने की राह बन्द हो जायेगी। उस स्थिति में भी नकारे गये प्रत्याशियों के बीच से ही कोई चुना जाकर प्रतिनिधित्व करने का हक हासिल कर लेगा और जनता के हाथ आयेगा झूठे अभिमान का झुनझुना।

चुनाव प्रणाली में सुधार की कवायद इससे पहले भी की जा चुकी है। तब प्रत्याशियों के लिए सम्पत्ति का विवरण देना अनिवार्य बनाया गया था। चुनाव खर्च की सीमा भी तय की गयी थी। लेकिन असलियत क्या है सभी जानते है। अभी बहुत दिन नहीं हुए जब भाजपा नेता और महाराष्ट्र के पूर्व उप-मुख्यमंत्री गोपीनाथ मुंडे ने सार्वजनिक मंच से बताया था कि पिछले चुनाव में उन्होंने 8 करोड़ रुपये खर्च किये। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमित भादुड़ी ने भी कहा है कि बड़ी चुनावी पार्टियों के प्रत्याशी एक-एक लोकसभा क्षेत्र में 20-25 करोड़ रुपये खर्च करते हैं। चुनाव प्रचार की वीडियोग्राफी से लेकर लाखों पर्यवेक्षकों की तैनाती के बावजूद सबकुछ बदस्तूर चलता रहता है।

इन चुनावी सुधारों के जरिये संसद-विधानसभा की कार्रवाइयों पर मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई से होनेवाले अनापशनाप खर्च को रत्तीभर भी कम नहीं किया जा सकता है। संसद की प्रत्येक घण्टे की कार्रवाई पर दो लाख रुपये खर्च होते हैं। संसद और विधानसभाएँ बहसबाज़ी के अड्डे हैं। एक हालिया रिपोर्ट के मुताबिक मौजूदा संसद में अब तक 750 से अधिक घण्टे हंगामे के भेंट चढ़ चुके हैं। ज़ाहिर हैं अपना पेट काटकर टैक्स भरनेवाली जनता के करोड़ों रुपये इन हंगामों और निरर्थक कार्रवाइयों में फूंक दिय जाते हैं।

यहाँ यह बात भी ग़ौरतलब है कि मौजूदा चुनाव प्रणाली चुनने का अधिकार तो देती है लेकिन इसमें सभी व्यक्तियों को चुने जाने का हक़ वास्तव में हासिल नहीं है। चुनाव के बेहिसाब खर्च के मद्देनज़र केवल सम्पत्तिशाली व्यक्ति को ही चुने जाने का अधिकार प्राप्त है। सच तो यह है कि उद्योगपतियों, व्यापारियों और सटोरियों की श्रेणी से आनेवाले सम्पन्न लोग ही चुनकर संसद-विधानसभाओं तक पहुँच सकते हैं। मौजूदा लोकसभा के कुल 543 सांसदों में से 315 करोड़पतियों का होना इसी तथ्य की पुष्टि करता है। इस पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर प्रत्याशी के चुनाव की चाहे कोई भी प्रक्रिया अपनायी जाये, कारख़ाने में खटनेवाला मजदूर या आम मेहनतकश विधायिका तक कभी नहीं पहुँच पायेगा। यदि पूँजीवादी पार्टियाँ बिना पूँजीपति घरानों से चन्दा लिये चुनाव लड़ ही नहीं सकतीं तो ज़ाहिर है कि संसद में पहुँचकर वे जनता की नहीं पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी ही करेंगी और पूँजीवाद की हिफ़ाज़त में काम करती रहेंगी। ऐसे में ये चुनाव सुधार महज़ सजावटी और मरणासन्न पूँजीवाद की आयु बढ़ाने के काम ही आते रहेंगे।

दरअसल न्यायपालिका पूँजीवादी व्यवस्था के दूरगामी हित में सोचती है। वह इस बात को लेकर सजग है कि पूँजी की लूट-खसोट इतनी न बढ़ जाये कि परेशानहाल जनता इस पूरी व्यवस्था से ही निजात पाने के बारे में सोचने लगे। इसलिए चुनाव प्रणाली में सुधारों के ज़रिये पूँजीवाद को ही अन्तिम विकल्प के रूप में पेश करने की ऐसी कोशिशें लगातार जारी रहती हैं।

मेहनतकश साथियों को यह भी यह समझना होगा कि बुनियादी आर्थिक ढाँचे में किसी बदलाव के बिना कोई भी चुनाव सुधार बेमानी ही होगा और उससे किसी वास्तविक बदलाव की उम्मीद करना खुद को भुलावे में रखना होगा।

– मीनाक्षी

पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा (ग्यारहवीं किस्त)

आज भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मज़दूर पूँजी की लुटेरी ताक़त के तेज़ होते हमलों का सामना कर रहे हैं, और मज़दूर आन्दोलन बिखराब, ठहराव और हताशा का शिकार है। ऐसे में इतिहास के पन्ने पलटकर मज़दूर वर्ग के गौरवशाली संघर्षों से सीखने और उनसे प्रेरणा लेने की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। आज से 141 वर्ष पहले, 18 मार्च 1871 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में पहली बार मज़दूरों ने अपनी हुकूमत क़ायम की। इसे पेरिस कम्यून कहा गया। उन्होंने शोषकों की फैलायी इस सोच को ध्वस्त कर दिया कि मज़दूर राज-काज नहीं चला सकते। पेरिस के जाँबाज़ मज़दूरों ने न सिर्फ़ पूँजीवादी हुकूमत की चलती चक्की को उलटकर तोड़ डाला, बल्कि 72 दिनों के शासन के दौरान आने वाले दिनों का एक छोटा-सा मॉडल भी दुनिया के सामने पेश कर दिया कि समाजवादी समाज में भेदभाव, ग़ैर-बराबरी और शोषण को किस तरह ख़त्म किया जायेगा। आगे चलकर 1917 की रूसी मज़दूर क्रान्ति ने इसी कड़ी को आगे बढ़ाया।

मज़दूर वर्ग के इस साहसिक कारनामे से फ्रांस ही नहीं, सारी दुनिया के पूँजीपतियों के कलेजे काँप उठे। उन्होंने मज़दूरों के इस पहले राज्य का गला घोंट देने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और आख़िरकार मज़दूरों के कम्यून को उन्होंने ख़ून की नदियों में डुबो दिया। लेकिन कम्यून के सिद्धान्त अमर हो गये। पेरिस कम्यून की हार से भी दुनिया के मज़दूर वर्ग ने बेशक़ीमती सबक़ सीखे। पेरिस के मज़दूरों की कुर्बानी मज़दूर वर्ग को याद दिलाती रहती है कि पूँजीवाद को मटियामेट किये बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। 'मज़दूर बिगुल' के मार्च 2012 अंक से दुनिया के पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा की शुरुआत की गयी थी, जिसकी अब तक दस किस्तें प्रकाशित हुई हैं।

इस शृंखला की शुरुआती कुछ किश्तों में हमने पेरिस कम्यून की पृष्ठभूमि के तौर पर जाना कि पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ मज़दूरों का संघर्ष किस तरह क़दम-ब-क़दम विकसित हुआ। हमने जाना कि कम्यून की स्थापना कैसे हुई और उसकी रक्षा के लिए मेहनतकश जनता किस प्रकार बहादुरी के साथ लड़ी। हमने यह भी देखा कि कम्यून ने सच्चे जनवाद के उसूलों को इतिहास में पहली बार अमल में कैसे लागू किया और यह दिखाया कि "जनता की सत्ता" वास्तव में क्या होती है। पिछली कड़ी से हम उन ग़लतियों पर नज़र डाल रहे हैं जिनकी वजह से कम्यून की पराजय हुई। इन ग़लतियों को ठीक से समझना और पूँजीवाद के ख़िलाफ़ निर्णायक जंग में जीत के लिए उनसे सबक़ निकालना मज़दूर वर्ग के लिए बहुत ज़रूरी है।

कम्यून की हिफ़ाज़त में अन्तिम दम तक लड़े मज़दूर

ऊपर: कम्यून के लाल झण्डे तले पूँजीपतियों की फ़ौज के साथ आर-पार के मुक़ाबले में जुटे पेरिस के जांबाज़ मज़दूर और स्त्रियाँ।
दायें: भीषण युद्ध के बीच कुछ आराम और आगे की लड़ाई की तैयारी करते पेरिस के मेहनतकश लोग।

1. पूँजीवादी व्यवस्था की सभ्यता और न्याय अपना भयावह रूप तभी प्रकट करते हैं जब उसके गुलाम और जांगर खटाने वाले अपने मालिकों के ख़िलाफ़ सिर उठाते हैं। और तब यह सभ्यता और न्याय नग्न बर्बरता और प्रतिशोध के अपने असली रूप में प्रकट होते हैं। मेहनत के फलों को हड़पने वालों और उत्पादकों के वर्ग-संघर्ष के प्रत्येक नये संकट में यह तथ्य और अधिक नग्न रूप में सामने आता है। जून 1848 में मज़दूरों की बग़ावत को कुचलने के लिए पूँजीपतियों के ज़ालिमाना कारनामे भी 1871 के अमिट कलंक के आगे फीके पड़ गये। अपना सबकुछ दाँव पर लगाकर जिस वीरता और शौर्य के साथ पेरिस के स्त्री-पुरुष और बच्चे तक वसार्य-पंथियों के प्रवेश के बाद आठ दिनों तक लड़े, वह इस बात का प्रमाण था कि वे किस ऊँचे लक्ष्य के लिए लड़ रहे थे। दूसरी ओर, वर्साय के फौजियों के नारकीय कृत्य उस सभ्यता की गन्दी आत्मा को प्रतिबिम्बित कर रहे थे जिसके वे भाड़े के नौकर थे।

2. थियेर और उसके ख़ूनी कुत्तों के कारनामों की मिसाल केवल प्राचीन रोमन साम्राज्य में हुए बर्बर हत्याकाण्डों से दी जा सकती है। उसी प्रकार का भीषण क़त्लेआम–उसी उपेक्षा के साथ चाहे कोई बूढ़ा हो या जवान, मर्द हो या औरत। बन्दियों को शारीरिक यातना देने के वही वहशियाना तरीक़े, उसी प्रकार का मनमाना न्याय, परन्तु इस बार एक पूरे के पूरे वर्ग के ख़िलाफ़। ख़ूँख़ार तरीके से फरार नेताओं का पीछा, ताकि कोई भाग कर निकल न सके, उसी प्रकार राजनीतिक और वैयक्तिक शत्रुओं पर दोषारोपण, उसी प्रकार बेगुनाह लोगों का, जिनका संघर्ष से कोई सम्बन्ध न था, अन्धाधुन्ध वध। फ़र्क केवल इतना था कि, रोमनों के पास बाग़ियों की पूरी की पूरी टोलियों का एक ही वार में सफ़ाया करने वाला, मशीनगन जैसा हथियार नहीं था। इसके अलावा रोमनों ने, न तो क़ानून और न्याय का नाटक किया था और न "सभ्यता" की दुहाई दी थी।

3. मज़दूरों को कुचलने के इस पाशविक अभियान ने पूँजीवादी सभ्यता के भयंकर चेहरे को नंगा कर दिया। उसके अपने ही अख़बारों ने इस बात का वर्णन किया है! लन्दन के एक टोरी पत्र के पेरिस संवाददाता ने लिखा: "ऐसे समय जब गोलियों की आवाज़ें अब भी कहीं दूर गूँज रही हैं; घायल अभागे, जिनकी कोई देखभाल करने वाला नहीं, पेयर-ला-शेज़ की कब्रों के बीच दम तोड़ रहे हैं; 6,000 आतंकग्रस्त बाग़ी, निराशा से बदहवास होकर, भूगर्भस्थ तहख़ानों की भुलभुलैयों में घूम रहे हैं; पकड़े गये अभागे मशीनगन की गोलियों से एक साथ बीसियों की संख्या में उड़ा देने के लिए जल्दी-जल्दी सड़कों से ले जाये जाते हैं; शराब, बिलियर्ड और डोमिनो के शौक़ीनों की भीड़, सजे हुए चौराहों पर विचरती हुई दुराचारिणी नारियाँ, फैशनेबुल रेस्तराओं के अन्त:कक्ष से गूँजती हुई और रात्रि की शान्ति को भंग करती हुई विलासोल्लास की ध्वनि घृणा उत्पन्न करती है।"

कम्यून की रक्षा के लिए अन्तिम साँस तक जूझते पेरिस के मेहनतकश

कम्यून की रक्षा की लड़ाई में सड़कों पर खड़े किये गये बैरिकेडों की बहुत बड़ी भूमिका थी। ऊपर के चित्र में जनता द्वारा बनाया गया एक यंत्र दिख रहा है जिसका इस्तेमाल बैरिकेड बनाने में किया जाता था। ऊपर बायें चित्र में एक बैरिकेड पर तैनात नेशनल गार्ड के योद्धा लाल झण्डे के साथ।

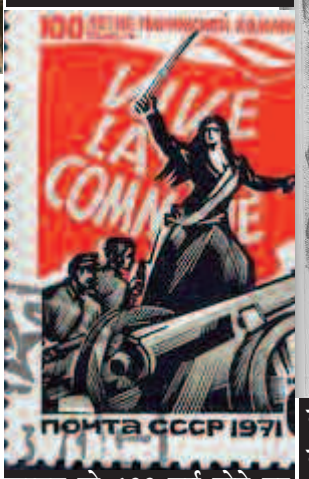

कम्यून के 100 वर्ष होने पर सोवियत संघ में निकला डाक टिकट

4. 'जूर्नाल द पेरिस' नामक वर्सायपंथी अख़बार में, जिसे कम्यून ने बन्द कर दिया था, श्री एडुअर्ड एर्वे लिखते हैं: "पेरिस की जनता ने कल जिस ढंग से अपनी सन्तुष्टि अभिव्यक्त की, उसमें ओछेपन का आवश्यकता से अधिक आभास था और हमें डर है कि समय बीतने के साथ यह और बढ़ता जायेगा। पेरिस में जो इस समय उत्सव के दिनों जैसी तड़कभड़क है वह नितान्त अनुपयुक्त है; यह चीज़ निश्चय ही ख़त्म होनी चाहिये वरना लोग हमें पतनोन्मुख पेरिसवासी कह कर पुकारेंगे।" इसके बाद उन्होंने एक पुराने लेखक तासितुस की निम्नलिखित उक्ति उद्धृत की–"पर उस भीषण संघर्ष की अगली सुबह को ही जब कि संघर्ष पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ था, पतित और भ्रष्टाचारी रोम एक बार फिर व्यभिचार के उस कीचड़ में लोटने लगा जो उसके शरीर को नष्ट एवं उसकी आत्मा को भ्रष्ट कर रहा था।" श्री एर्वे सिर्फ़ इतना कहना भूल गये कि जिस "पेरिस की जनता" की बात उन्होंने कही है वह थियेर की, वर्साय और आसपास से झुण्ड के झुण्ड लौट रहे धूर्तों की, यानी पतनोन्मुख पेरिस की जनता थी।

मज़दूरों ने पुराने शासन में दमन के सबसे बड़े प्रतीक 'गिलोतीन' को तोड़ डाला। लेकिन वे शोषण की पुरानी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ नहीं फेंक पाये। यह काम उनकी आने वाली पीढ़ियों को पूरा करना है।

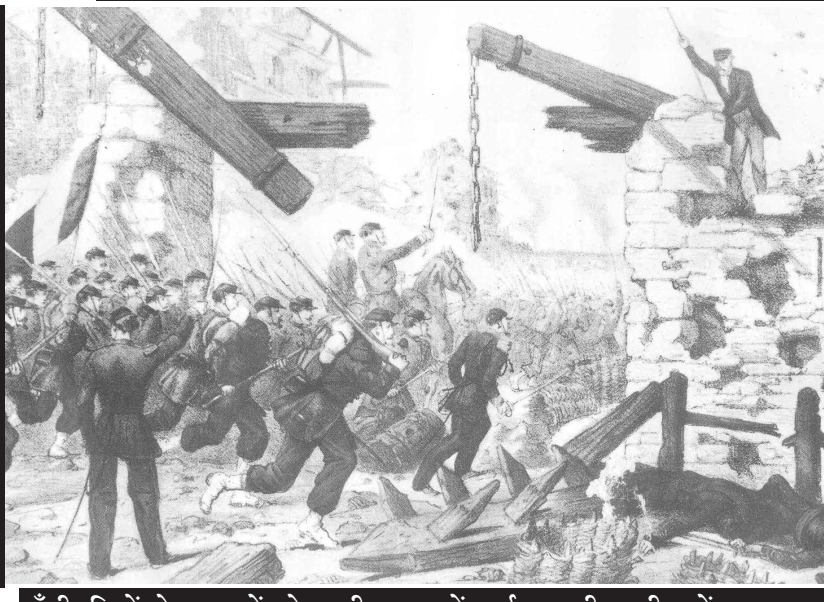

पूँजीपतियों ने मज़दूरों के ख़ूनी दमन में बर्बरता की सारी हदें पार कर दीं, लेकिन मज़दूरों ने अपनी आत्मरक्षा के लिए पीछे हटते हुए जब कुछ इमारतों को आग लगायी तो उनके सारे नेता और अख़बार वहशीपन कहकर चिल्लाने लगे।

5. मेहनत की गुलामी पर आधारित यह जघन्य सभ्यता जब-जब नये और श्रेष्ठतर समाज के आत्मत्यागी समर्थकों पर रक्तरंजित विजय प्राप्त करती है, वह पराजितों की कराह को कुत्सा-प्रचार की एक बाढ़ में डुबो देती है, और यह कुत्सा-प्रचार पूरी दुनिया में फैलाया जाता है। मज़दूरों का प्रशान्त पेरिस, जहाँ कम्यून का राज था, "व्यवस्था" के ख़ूनी कुत्तों द्वारा सहसा अव्यवस्था और हिंसा की अन्धेर-नगरी बना दिया जाता है। और संसार के सभी देशों में पूँजीवादी दिमाग़ के लिए यह ज़बरदस्त परिवर्तन क्या सिद्ध करता है? यही कि कम्यून ने सभ्यता के विरुद्ध षड्यंत्र किया था! कम्यून के लिए पेरिस की जनता इतनी बड़ी संख्या में उत्साहपूर्वक अपने प्राणों की बलि देती है जिसकी इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं। इससे क्या सिद्ध होता है? यही कि कम्यून जनता की सरकार नहीं थी, बल्कि मुट्ठी-भर मुज़रिमों की नाजायज़ हुकूमत थी! पेरिस की मेहनतकश स्त्रियाँ ख़ुशी-ख़ुशी सड़क-मोर्चों और फाँसी के तख़्तों पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाती हैं। यह क्या सिद्ध करता है? यही कि कम्यून रूपी राक्षस ने उन्हें लड़ाका राक्षसियाँ बना दिया! जितनी वीरता के साथ कम्यून ने अपनी रक्षा के लिए युद्ध किया उतनी ही उसने, दो महीने के एकछत्र शासन में, नरमी भी बरती। यह क्या सिद्ध करता है? यही कि कम्यून महीनों तक कोमलता और मानवीयता के छद्म आवरण में अपनी रक्तलोलुप राक्षसी हिंस्रवृत्ति को छिपाये हुए था।

6. पूँजीपतियों ने इस बात पर बहुत शोर-शराबा मचाया कि मज़दूरों ने पेरिस की इमारतों को जलाकर बर्बाद कर दिया। आज भी बुर्जुआ प्रचार माध्यम कम्यून के इतिहास में पेरिस की तबाही को सबसे बड़ी घटना के रूप में पेश करते हैं। मगर सच्चाई क्या थी? मज़दूरों के पेरिस ने जब वीरतापूर्वक अपने को क़ुरबान करना शुरू किया, तो उन्होंने इमारतों और स्मारकों को भी इस आग की लपट में भस्म हो जाने दिया। सर्वहाराओं के जीवित शरीर की बोटी-बोटी काटते समय उसके शासकों को आग से यह उम्मीद नहीं करनी चाहिये कि जीतकर घर लौटने पर वे अपनी इमारतों को सही सलामत खड़ी पायेंगे। वर्साय की सरकार ने "आगज़नी!" का शोर मचाया और दूरवर्ती गाँवों तक में अपने गुर्गों को संकेत दिया कि वे उसके शत्रुओं को पेशेवर आगज़नी करने वाले बताकर पकड़ें। मार्क्स ने लिखा, "सारी दुनिया के पूँजीपति, जो युद्ध के बाद होने वाले सामूहिक हत्याकाण्ड पर चूँ तक नहीं करते, ईंट और गारे की पवित्रता नष्ट होने पर काँप उठते हैं!"

7. कम्यून ने आग का इस्तेमाल सोलहों आना प्रतिरक्षात्मक साधन के रूप में किया। उसने इसका इस्तेमाल वर्साय की फ़ौजों के लिए उन लम्बे, सीधे मार्गों को बन्द करने के लिए किया, जिन्हें वर्साय के जनरल ओस्मान ने ऐलानिया तौर पर तोपख़ाने की मार के लिए खुला रखा था। मज़दूर पीछे हटते समय अपने बचाव के लिए उसी प्रकार आग का इस्तेमाल कर रहे थे जिस प्रकार वर्साय के सिपाही आगे बढ़ने के लिए तोप के गोलों का इस्तेमाल कर रहे थे, जिनसे कम से कम उतने ही मकान नष्ट हुए जितने कम्यून द्वारा आग लगाये जाने से। यह कभी पता नहीं चल सका कि किन मकानों को प्रतिरक्षकों ने जलाया और किन मकानों को आक्रमणकारियों ने जलाया। और प्रतिरक्षकों ने आग का इस्तेमाल तभी किया जब वर्साय के फौजियों ने बन्दियों को अन्धाधुन्ध क़त्ल करना शुरू किया। इसके अलावा कम्यून ने बहुत पहले ही, सार्वजनिक रूप से, इस बात की घोषणा की थी कि अगर उसे आख़िरी हद तक मज़बूर किया गया तो वह अपने को पेरिस के खण्डहरों में दफ़्न कर देगा। कम्यून जानता था कि उसके विरोधियों को पेरिस की जनता के प्राणों की चिन्ता नहीं है, लेकिन उन्हें पेरिस की अपनी इमारतों की फ़िक्र ज़रूर है।

ऊपर और बायें : मई 1871 के दिनों में हुई भीषण लड़ाई में तबाह हुई पेरिस की इमारतें। युद्ध में आग का प्रयोग वस्तुत: वैसा ही जायज़ हथियार है जैसा कोई भी हथियार हो सकता है। उन इमारतों पर, जिन पर दुश्मन का कब्ज़ा है, आग लगाने के लिए गोलाबारी की जाती है। यदि रक्षकों को पीछे हटना पड़ता है तो वे स्वयं उनमें आग लगा देते हैं ताकि आक्रमण के लिए उन्हें इस्तेमाल न किया जा सके। सारी दुनिया में नियमित सेनाओं के युद्ध-मोर्चों के क्षेत्र में स्थित मकानों की यह बदकिस्मती रही है कि वे जलाये जायें। लेकिन दास-उत्पीड़कों के विरुद्ध दासों के युद्ध में, जो इतिहास का एकमात्र न्यायपूर्ण युद्ध है, हमेशा यह कहा जाता है कि यहाँ यह नियम लागू नहीं होता!

8. पेरिस कम्यून को कुचलने के बाद प्रशा और फ्रांस के पूँजीपति एक हो गये जिनके बीच कुछ ही महीने भीषण युद्ध चल रहा था। यह इस बात का सबूत था कि जैसे ही वर्ग-संघर्ष गृह-युद्ध की शक्ल अख़्तियार कर लेता है, वैसे ही राष्ट्रीयता का नक़ाब उतार दिया जाता है। सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध सभी राष्ट्रीय सरकारें एक हो जाती हैं! यह बात 1917 में फिर दोहरायी गयी जब सोवियत संघ में मज़दूरों की सत्ता क़ायम होते ही 16 देशों की सरकारों ने मिलकर उस पर हमला बोल दिया था।

ख़ून की होली खेलते समय अपने शिकार के विरुद्ध कुत्साप्रचार की आँधी छेड़ देना शासक वर्गों की पुरानी नीति रही है। इस मामले में पूँजीपति वर्ग पुराने जमाने के उन सामन्तों का ही वारिस है जो समझते थे कि आम जनता के विरुद्ध अपने प्रत्येक हथियार का उपयोग जायज़ है, लेकिन आम जनता के हाथ में किसी प्रकार का हथियार होना जुर्म है।

मज़दूरों के महान नेता और शिक्षक – कार्ल मार्क्स

"कम्यून के सिद्धान्त शाश्वत और अनश्वर हैं, जब तक मज़दूर वर्ग मुक्त नहीं हो जाता, तब तक ये सिद्धान्त बार-बार प्रकट होते रहेंगे।"
– कार्ल मार्क्स

कम्यूनार्डों के रक्त से इतिहास ने मज़दूरों के लिए यह कड़वी शिक्षा लिखी कि सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति को अन्त तक चलाना होगा। सत्ता न तो शान्तिपूर्वक मिलेगी, न ही शान्तिपूर्वक उसकी हिफ़ाज़त की जा सकेगी।

9. 1871 के पेरिस कम्यून के दमन ने यह भी साबित कर दिया कि मज़दूरों और उनके उत्पादन को हड़प लेने वालों के बीच अब स्थायी शान्ति या युद्ध-विराम नहीं हो सकता। संघर्ष बार-बार और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर अनिवार्य रूप में छिड़ेगा और इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि अन्त में विजय किसकी होगी–मुट्ठी-भर लुटेरों की या बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग की। **कार्ल मार्क्स** के शब्दों में, **"मज़दूरों का पेरिस और उसका कम्यून नये समाज के शानदार पथ प्रदर्शक के रूप में सदा यशस्वी रहेगा। उसके शहीदों ने मज़दूर वर्ग के विशाल हृदय में अपना स्थान बना लिया है। उसे मिटाने वालों को इतिहास ने चिरकाल के लिए मुजरिम के उस कठघरे में बन्द कर दिया है जिससे उनके पादरियों की सारी प्रार्थनाएँ भी उन्हें छुड़ा न सकेंगी।"**

(अगले अंक में जारी...)

सावधान! फ़ासीवादी शक्तियाँ अपने ख़तरनाक खेल में लगी हैं!

(पेज 1 से आगे)

आदि शायद ही कोई शहर हो इस प्रांत में जहाँ साम्प्रदायिक दंगे नहीं हुए। हाल यह हो चुका है कि महाराष्ट्र में अब औसतन हर बीस दिन में साम्प्रदायिक दंगों जैसी घटना होती है।

गुजरात में इसी दौरान 823 साम्प्रदायिक दंगों की घटनाएँ हुई जिनमें 1114 मौतें (सरकारी सूचनाओं पर आधारित) हुई हैं। अन्य रिपोर्टों के अनुसार अकेले 2002 के गुजरात दंगों में ही 2000 मौतों का अनुमान है। उत्तर प्रदेश भी पीछे नहीं है, यहाँ पर भी 2001-11 के अन्तराल में 1112 साम्प्रदायिक झड़पें या दंगे हुए जिनमें 284 मौतें हुई। इसके बाद नम्बर आता है मध्य-प्रदेश का जहाँ 2000-08 के बीच 801 साम्प्रदायिक वारदातें हुई और 115 मौतें। अगर 2005-09 का अन्तराल लें तो यह प्रदेश दूसरे स्थान पर आता है जब यहाँ 648 घटनाएं हुई। एक बात और, अक्सर दंगों को हिन्दू-मुस्लिम दंगे या साम्प्रदायिक झड़पों का नाम दिया जाता है लेकिन मरने वालों की बड़ी संख्या मुसलमानों की रहती है। गुजरात दंगों में मरने वालों में भी, सरकारी सूचनाओं के अनुसार, 75 प्रतिशत से ज्यादा मुस्लिम थे, जबकि गैर-सरकारी सूचनाओं के अनुसार यह आँकड़ा 90 प्रतिशत से ज्यादा का है। तथ्य बताते हैं कि आम तौर पर ये हिन्दू-मुस्लिम दंगे या झड़पें उकसाई जाती हैं या फिर मुसलमानों पर योजनाबद्ध हमले और कत्लेआम होते हैं।

इसके अलावा उड़ीसा में 2007-08 में ईसाई विरोधी दंगे हुए जिनमें संघ परिवार के संगठन विश्व हिन्दू परिषद ने मुख्य भूमिका निभाई। सबसे भयंकर दंगे कन्धमाल जिले में हुए। यहाँ 210 गांवों के 4600 घर जला दिए गए, 40 मौतें हुई, 18000 लोग जख्मी हुए, 50,000 को अपनी जगह से उजड़ना पड़ा और 252 चर्च तथा 13 शिक्षा संस्थान आग के सुपुर्द कर दिए गए। पता नहीं कितने बलात्कार हुए और बहुत से यतीमखाने जलाने की घटनाएं हुई। उल्लेखनीय है कि इन दंगों के समय भाजपा, बीजू जनता दल के साथ राज्य की गठजोड़ सरकार का हिस्सा थी। भाजपा का एक विधायक इन दंगों को भड़काने में शामिल था। शर्मनाक बात यह है कि मुख्यमंत्री नवीन पटनायक ने भाजपा और संघ के दूसरे फ़ासीवादी संगठनों की इन दंगों में भूमिका पर आलोचना का एक शब्द भी मुंह से नहीं निकाला। जब चुनाव नजदीक आए तो पटनायक ने भाजपा से समझौता तोड़ कर दंगों के कारण 'प्रदेश की हुई राष्ट्रीय स्तर पर बदनामी' और 'संघ की घटिया भूमिका' का राग अलापना शुरू कर दिया।

इसी तरह कर्नाटक में अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा की वारदातें लगातार हो रही हैं जिसके पीछे संघ और इससे जुड़े संगठनों का ही हाथ है। इस प्रदेश ने 2009 में मैसूर में मुस्लिम विरोधी वारदातें, और 2008 में मंगलोर, उडपी, शिमोगा आदि शहरों में चर्च और पादरियों पर लगातार हुए हमले देखे हैं। इस प्रदेश में भी संघ पिछले चालीस साल से सक्रिय है, बेशक इसका परिणाम अभी मुंबई 1992 या गुजरात 2002 जैसा दिखाई नहीं दिया पर इसकी पूरी संभावना है। इसके लिए पूरी कोशिश संघ और इससे जुड़े फ़ासीवादी गिरोह लगातार कर रहे हैं। ऐसी ही कोशिश 'श्रीराम सेने' नाम के हिन्दू फ़ासीवादी गिरोह ने 1 जनवरी, 2012 को सिंधागी नाम के कस्बे में की। श्रीराम सेने के कारकुनों ने तहसीलदार दफ्तर पर आधी रात को पाकिस्तान का झंडा लगा दिया और इसका इल्जाम स्थानीय मुसलमान आबादी के सिर मढ़ दिया और इलाके में मुसलमान विरोधी प्रचार शुरू कर माहौल को साम्प्रदायिक बनाने की कोशिशें की। छह दिन बाद जब इस गिरोह के छह लोग दबोचे गए तो सभी हिन्दू फ़ासीवादी संगठनों ने उनके बचाव के लिए चीखना शुरू कर दिया। यह भी सामने आया कि इन्हीं छह लोगों ने घटना के अगले दिन 'दोषियों को पकड़ने' में देरी के विरोध में रोष प्रदर्शन आयोजित किये थे।

संघ का प्रसार उसके परंपरागत खेमों से बाहर होने के संकेत भी आने शुरू हो गए हैं। राजस्थान में संघ ने पैर पसारे हैं। उदयपुर तथा जोधपुर के नजदीक एक गांव बालेसिर में साम्प्रदायिक वारदातें हो चुकी हैं। सन 2011 में भरतपुर जिले में हुए गोपालगंज हत्याकांड ने संघ के द्वारा इस राज्य में बुने जाल को सामने ला दिया है। पहले तो प्रदेश की कांग्रेस सरकार ने इस घटना पर पर्दा डालने की कोशिश की, मगर बाद में जब जांच रिपोर्टों ने इस हत्याकांड में संघ से जुड़े स्थानीय गुर्जर भूमिपतियों की भूमिका, सरकारी मशीनरी तथा पुलिस के साथ इसके संबंधों को नंगा किया तो दिखावे के लिए प्रशासनिक अधिकारियों के तबादले शुरू कर दिए गए। गोपालगंज में एक कब्रिस्तान की जमीन का विवाद है जिसके बारे में कई बार अदालती फैसला मुस्लिम समुदाय के हक में हो चुका है मगर गुर्जर भूमिपति इस फैसले को मानने से इनकार करते हैं। 14 सितंबर 2011 को जब इस संबंध में दोनों पक्षों में बातचीत हो रही थी तो संघ, विहिप, बजरंग दल और गुर्जर भूमिपतियों के गुंडों ने मुस्लिम मुहल्लों में छीना-झपटी, और आगजनी शुरू कर दी। दोपहर के समय जब इलाके के लोग मस्जिद में नमाज के लिए इकठ्ठे हुए तो उन लोगों ने पुलिस के साथ मिलकर मस्जिद से बाहर निकलने वाले रास्तों पर पुलिस के वाहन खड़े कर हमला बोल दिया। लाठियों और गोलीयों से हुए इस हमले में 20 लोग मारे गए। गोलियों के निशान मिटाने के लिए मरे हुए लोगों की टांगें और बाजू काट दिए गए और लाशों के साथ कुछ लोगों को जिंदा जला दिया गया। उत्तराखंड में भी तराई का इलाका जो बाबरी मस्जिद को तोड़े जाने के बाद भी शांत रहा था, अब साम्प्रदायिक दंगों की लपेट में आ चुका है। 2011 में शहीद अशफाकउल्ला का बुत तोड़ने पर रुद्रपुर शहर में दंगे भड़क उठे।

दंगों के लिए माहौल बनाना और फिर उसको अंजाम देना, सिर्फ यही नहीं है जो संघी फासीवाद करता है। दुनिया भर के हर फासीवादी की तरह, यह भी अपने खिलाफ बोलने वाले कलाकारों, बुद्धिजीवियों और लेखकों के ऊपर हमले, धमकियाँ और यहाँ तक की कत्ल की वारदातों को भी अंजाम देता है। मध्य प्रदेश के उज्जैन शहर में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के गुंडों द्वारा प्रो. सभरवाल का कत्ल, नामी चित्रकार एम. एफ. हुसैन पर लगातार हमले, कश्मीर मसले पर होने वाले सेमिनारों आदि में लगातार गुंडागर्दी और इस मसले पर संघ के विरूद्ध बोलने वालों पर हमले जिनमें पिछले साल वकील शांति भूषण पर हुआ हमला, इसके कुछ उदाहरण हैं। शिक्षा संस्थानों का भगवाकरण और भारत के इतिहास और संस्कृति की 'संघी कहानी' के खिलाफ जाने वाली किताबों को पाठ्यक्रम से बाहर करवाना, जलाना जैसी घटनाएँ अक्सर होती रहती हैं। रोहिंटन मिस्त्री के नावेल को मुंबई युनीवर्सिटी के पाठ्यक्रम से और रामानुजन के रामायण के बारे में लिखे लेख को दिल्ली युनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम से हटाने का मसला इसका उदाहरण है। 1970 के दशक में भी इसी तरह संघी दबाव के कारण जनता पार्टी सरकार ने इतिहासकार रामशरण शर्मा की किताब "एंशिएंट इंडिया" को पाठ्यक्रम से बाहर कर दिया था।

इसके अलावा पिछले दशक में संघ की आतंकवादी हरकतों में भी इज़ाफ़ा हुआ है। महात्मा गाँधी के क़त्ल को छोड़ कर आजादी के बाद संघ ने इस क्षेत्र में ज्यादा कुछ नहीं किया था। पर बीते कुछ सालों में कई 'रहस्यमयी' धमाकों के पेंच जब खुलने लगे तो संघ का आतंकवादी नेटवर्क और हथियारबंद संगठनों का तानाबाना सामने आया। 2003 और 2004 में महाराष्ट्र के मराठवाड़ा इलाके के तीन शहरों जालना, पूर्णा और परभणी में मस्जिदों में बम धमाके हुए और परभणी की एक मस्जिद के बाहर मोटरसाइकिल सवार हमलावरों ने नमाज के लिए आए लोगों पर अंधाधुन्ध गोलीबारी की।

परभणी में हुई इस वारदात के बाद तो पूरे मराठवाड़ा में हिंसा फैल गयी थी। ये धमाके 'रहस्यमयी' बने रहे। फिर 2006 में मराठवाड़ा इलाके के एक और शहर नांदेड़ के एक घर में धमाका हुआ और अगले साल इसी शहर की एक बेकरी में धमाका हुआ। इसके बाद 18 फरवरी, 2007 को समझौता एक्सप्रेस बम धमाका हुआ जिसमें 68 लोगों की मौत हो गयी और 2008 में महाराष्ट्र के मालेगांव में मस्जिद के आगे धमाका हुआ। जब नांदेड़ धमाके की तफ्तीश हुई तो पता चला कि धमाके वाला घर संघ से जुड़े एक व्यक्ति का है और मारे गए दोनों लोग बजरंग दल के कार्यकर्ता थे। जख्मी हुए चार व्यक्ति भी संघ के ही सदस्य थे। बेकरी धमाके में मारे गए दो आदमी भी बजरंग दल के सदस्य निकले। असल में इन दोनों जगहों पर संघी टोले बम बना रहे थे जिनका प्रयोग नांदेड़ शहर में मुसलमानों पर हमले के लिए और दंगा भड़काने के लिए होना था। इसी टोली ने जालना, पूर्णा और परभणी में बम धमाके किये थे। इसी तरह जब पोल खुलनी शुरू हुई तो मालेगांव धमाके और समझौता एक्सप्रेस में धमाकों के पीछे भी संघी फ़ासीवाद का हाथ सामने आया। संत असीमानंद, साध्वी प्रज्ञा ठाकुर और फौज के लेफ्टीनेंट कर्नल पुरोहित तक इसके तार जा जुड़े। सब कुछ सामने आने पर संघ, इसके अन्य फ़ासीवादी गिरोहों और इसके संसदीय मुखौटे भाजपा ने खूब हल्ला मचाया, इससे मुकरने की कोशिश भी की और पकड़े गए संघी कारकुनों को बेकसूर एवं देशभक्त बताना शुरू कर दिया।

आम लोगों के खिलाफ फ़ासीवादी जंग जारी रहती है, बस तरीके बदलते हैं

भाजपा और संघ के तीन मुख्य मुद्दे हैं – राममंदिर, संविधान की धारा 370 को खत्म करना और देश में एक जैसा नागरिक कोड लागू करना। 2004 के लोकसभा चुनावों में ये तीनों मुद्दे फुस्स होने के कारण संघ ने इनको कुछ समय के लिए पीछे धकेला और लामबंदी के दूसरे सामाजिक और सांस्कृतिक रंगत वाले तौर तरीके आजमाने शुरू किए। इनमें पहला काम जो संघ कर रहा है वह है गौ रक्षा के लिए कानून बनाने की मुहिम चलाना और इस मसले पर हिन्दू और मुसलमानों तथा अन्य धर्मों को मानने वालों के बीच ध्रुवीकरण को तीखा करना। दूसरा क्षेत्र जहाँ संघ पूरे जोर से काम कर रहा है वह है शिक्षा को साम्प्रदायिक रंग देना। जिन प्रदेशों में भाजपा की सरकारें हैं वहाँ तो ये काम सरकारें कर ही रही हैं। तीसरा काम लोगों के ज्वलंत मुद्दों को ढाल बनाकर अपना आधार बनाना और भ्रष्टाचार विरोधी 'अन्ना मुहिम' को समर्थन देना। आडवाणी की भ्रष्टाचार के खिलाफ 'रथ यात्रा' इसी योजना का हिस्सा थी।

1925 में अपनी स्थापना के बाद से ही, संघ ने 'गौ रक्षा समितियों' का एक व्यापक नेटवर्क खड़ा किया है, खास तौर पर उत्तर भारत में। इनका काम कहने को तो गौशाला चलाने का है पर अपने जन्म से ही ये समितियाँ दंगे भड़काने और साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने में शामिल रही हैं। "गौ हिंदुओं के लिए पवित्र है", "मुसलमान हिंदुओं को नीचा दिखाने के लिए गोमांस खाते हैं।" इस तरह की बेसिरपैर, बेबुनियाद बातों को दोहराना इन समितियों का मुख्य काम रहा है। मध्य प्रदेश में शिवराज चौहान के राज्य में इसको ही "पवित्र गौ" और भोपाल की मस्जिदें, ताज-उल मस्जिद और और जामा मस्जिद के बीच मुकाबला बनाकर पेश किया जाता रहा है। 1950 से ही गौ रक्षा का मुद्दा भाजपा के मुख्य एजेण्डे पर रहा है, तब इसका नाम जनसंघ था। बेशक भाजपा के केन्द्रीय नेतृत्व ने आजकल कट्टर हिन्दुवादी मुखौटे को उतारकर नरम हिन्दुवादी मुखौटा पहना हुआ है लेकिन प्रादेशिक स्तर पर हिन्दू फ़ासीवादी मुखौटा पूरी कुशलता के साथ अपना काम किये जा रहा है। इसको ध्यान में रखते हुए मध्यप्रदेश सरकार ने गौ रक्षा के लिए कानून को और भी सख्त बनाने के लिए बिल पास किया जिसके तहत अब गौ हत्या पर सात साल की कैद की सजा का प्रावधान किया गया है। ना सिर्फ इतना ही, गोमांस खाना भी पूरी तरह से प्रतिबंधित कर दिया गया है। गिरफ्तारी के अधिकार हैड कांस्टेबल रैंक के पुलिस कर्मी को दे दिए गए हैं, यहाँ तक कि गोमांस खाने के शक के आधार पर ही किसी को भी गिरफ्तार किया जा सकता है। इस कानून को पास करने से पहले विश्व हिन्दू परिषद ने पूरे मध्यप्रदेश में हस्ताक्षर अभियान चलाया। प्रदेश की शिवराज चौहान सरकार ने भारी धनराशि सरकारी तौर पर गोशालाओं को बनाने के लिए जारी की। याद रहे मध्यप्रदेश पूरी दुनिया में भयंकर गरीबी और भुखमरी से सबसे ज्यादा प्रभावित क्षेत्रों में शुमार है। भाजपा सरकार वाले अन्य प्रदेशों जैसे गुजरात, कर्नाटक, उत्तराखंड और छत्तीसगढ़ में भी ऐसे ही कानून बनाए गए हैं।

शिक्षा का भगवाकरण भी उच्च स्तर पर जारी है । जब भी भाजपा सत्ता में आई, उन राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों को बदलने का काम शुरू हो गया। केन्द्र में सरकार रहने के समय भी भाजपा के मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने प्राइमरी, सेकेंडरी और उच्च स्तर पर पाठ्यक्रम को ज्यादा भारतीय, ज्यादा कौमी और ज्यादा आध्यात्मिक बनाने की कोशिशें कीं लेकिन इसमें उनको सफलता नहीं मिली। लेकिन भाजपा की प्रादेशिक सरकारें इसमें कोई ढील नहीं दे रही हैं।

गुजरात में नौवीं कक्षा को पढ़ाया जाता है कि "देश के लिए सबसे बड़ी मुसीबत अल्पसंख्यक समुदाय है"। इसके बाद "अनुसूचित जातियाँ और

(पेज 12 पर जारी)

सावधान! फ़ासीवादी शक्तियाँ अपने ख़तरनाक खेल में लगी हैं!

(पेज 11 से आगे)

कबीले, स्मगलिंग, भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी" आते हैं। इस पाठ के अनुसार मुसलमान और पारसी विदेशी हैं। सेकेंडरी लेवल पर नरेंद्र मोदी की जीवनी पढ़ाने की सिफारिश की जाती है। मध्य प्रदेश और कर्नाटक की भाजपाई सरकारों ने स्कूलों में गीता की पढ़ाई अनिवार्य करने की कोशिश की, जो फिलहाल विरोध के कारण खटाई में पड़ गयी है। उत्तराखण्ड की भाजपा सरकार ने नया क्षेत्र खोजा है – यहाँ पर आज-कल संस्कृत को उच्च महत्व देने का काम जारी है।

सरकारों का इस्तेमाल शिक्षा ढाँचें के भगवाकरण में करने के अलावा, शिक्षा क्षेत्र में संघ की एक बड़ी मशीनरी 'विद्या भारती' काम करती है। 'विद्या भारती' की स्थापना 1977 में की गयी। अब पूरे भारत में इसके 28000 स्कूल चलते हैं। इनमें 32,50,000 विद्यार्थी पढ़ते है। इन स्कूलों के लिए पाठ्य पुस्तकें 'विद्या भारती संस्थान' छपवाता है जिनको 1996 में ही राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) 'धार्मिक कट्टरपंथ और संकीर्णता' को बढ़ावा देने वाली किताबें कह चुकी है। भारत के इतिहास के सबंध में तरह-तरह के मनगढ़ंत झूठ विद्यार्थियों को पढ़ाए जाते हैं जैसे - 1528-1914 ईस्वी के अंतराल में राम जन्मभूमि पर 77 हमले हुए और 3-5 लाख श्रद्धालुओं ने पवित्र स्थान की रक्षा के लिए जान दे दी। 2 नवंबर 1990 का दिन भारत के इतिहास का 'काला दिन' है क्योंकि उस दिन हिंदुओं को बाबरी मस्जिद तोड़ने से रोक दिया गया था, इत्यादि। इसके अलावा संघ अशिक्षा खत्म करने के नाम पर 'एकल विद्यालय' अर्थात एक अध्यापक वाले स्कूल चलाता है। यहाँ संघी फ़ासीवादी विचारधारा का प्रचार खुलेआम किया जाता है। संघ के इस शिक्षा ढाँचे को फंड दिलाने के लिए पश्चिमी देशों में संघ के संगठनों की शाखाएं हैं जो सीधे अपने नाम या 'इंडिया डेवेलपमेंट एंड रिलीफ फंड' जैसे ग्रुपों के नाम से लाखों डालर जुटाती हैं। मध्य प्रदेश ,छत्तीसगढ़, और झारखण्ड आदि प्रदेशों में 'एकल विद्यालयों' को सरकार अनुदान देती है जबकि इसका नियंत्रण संघ के हाथों में है।

विश्व हिन्दू परिषद पूरे भारत में 'शुद्धि मेले' आयोजित करता है जहाँ लोगों को हिन्दू धर्म धारण करवाया जाता है या दूसरा धर्म धारण कर चुके लोगों को 'वापस' बुलाया जाता है। भाजपा सरकार वाले प्रदेशों में तरह-तरह के धार्मिक आजादी के कानून लाये जा रहे हैं जो भारत में नागरिकों के किसी भी धर्म को मानने और प्रचार करने के बुनियादी संवैधानिक हक के ही ख़िलाफ़ हैं। तरह-तरह के तरीकों से अलग-अलग धर्मों और जातियों के लोगों को अलग-अलग इलाकों में रहने के लिए मजबूर किया जाता है । जैसे अहमदाबाद में मुसलमान शहर के कुछ खास इलाकों में केंद्रित हो गए जो नाजी जर्मनी में यहूदियों के इलाके 'घेटो' की याद ताजा कर देते हैं। दूसरी ओर, 'सेवा भारती' जैसे संघी संस्थान हैं जो 'समाज कल्याण' के मुखौटे तले फ़ासीवादी प्रचार को आगे बढ़ाते हैं। ऐसा ही 'वनवासी कल्याण आश्रम' है जो आदिवासियों में 'समाज कल्याण' का काम करती है। कुल मिलाकर संघ के 30 से अधिक अलग-अलग संगठन हैं जो देश के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग तबकों और धर्मों के बीच काम करते हैं।

इसके अलावा संघ नागपुर में 'भोंसला मिलेट्री स्कूल' चलाता है जिसका कई बम धमाकों में नाम आ चुका है। 2012 के फरवरी महीने में संघ ने इस स्कूल के 75 साल पूरे होने पर जश्न मनाया जिसके मुख्य भाषण के दौरान संघ के मोहन भागवत ने ब्रिटिश राज्य को आज के भारत से अच्छा बताकर संघ की ब्रिटेन भक्ति का सबूत दिया और साथ ही कहा की 'विद्यार्थियों' को आम शिक्षा के साथ मिलेट्री ट्रेनिंग देना ज़रूरी है क्योंकि 'देश को ख़तरा' है। याद रहे कि इस स्कूल की स्थापना 1937 में संघ के सदस्य और हिन्दू महासभा के नेता डॉ. मुंजे ने की थी, इसकी नींव का पत्थर उस समय के बम्बई प्रदेश के अंग्रेज गवर्नर सिर रोजर लुमले ने रखा था। इस स्कूल को डॉ. मुंजे द्वारा ही स्थापित केन्द्रीय हिन्दू मिलेट्री शिक्षा कमेटी चलाती है। 65 एकड़ में फैले इस स्कूल के कैम्पस को 'रामभूमि' कहा जाता है और आम शिक्षा के साथ-साथ 'पर्सनैलिटी डेवेलपमेंट कोर्स', मिलेट्री ड्रिल्स, गोली चलाने और हथियारों की शिक्षा दी जाती है। यहाँ तक कि तोपखाने चलाने का प्रदर्शन भी किया जाता है। इस स्कूल के पढ़े हुए कई 'विद्यार्थी' भारतीय फौज के ऊंचे ओहदों पर पहुंचे हैं। 75 साला जश्न के मौके पर यह ऐलान किया गया कि मध्य प्रदेश, गुजरात और उत्तराखण्ड में ऐसे और स्कूल खोले जाएंगे।

नांदेड़ धमाकों की तफ्तीश में सामने आया कि उस टोली का रिंग-लीडर हिमांशु पांसे और उसका साथी केशव वाघ इसी मिलेट्री स्कूल में 15 दिनों का कैम्प करके गए थे और पुणे में इन्होंने पाइप-बम बनाने का प्रशिक्षण लिया था। पुणे के एक सेवामुक्त नौसेना अफसर एस. आर. भाटे का नाम भी इसी जाँच के दौरान सामने आया जो कि 1996 से संघ के साथ जुडा हुआ है। उसने माना कि उसको एक स्थानीय बजरंग दल नेता ने अपने कारकुनों को 'जिलेटीन स्टिक' का प्रयोग सिखाने के लिए कहा था। इसके लिए पहले उसने एक स्थानीय कैंप लगाया। मालेगांव धमाके के तार भी इसी स्कूल से जुड़ते हैं और ऐसा ही फ़ासीवादी संगठन 'अभिनव भारत' के मामले में सामने आया है। लेफ्टिनेंट कर्नल श्रीकांत पुरोहित के मालेगांव धमाकों के 'मास्टरमाइंड' होने के तथ्य सामने आने के अलावा यह भी राज खुला कि इस स्कूल के प्रिंसिपल कर्नल एस.एस. रायकर और एक क्लर्क भी इस मामले से और 'अभिनव भारत' के साथ जुड़े हुए हैं। अख़बारों में इस बात का खुलासा होने के बाद इन्होंने बिना कोई कारण बताए इस्तीफा दे दिया। जब्त हुई ऑडियो टेपों में श्रीकांत पुरोहित यह कहता है – "स्कूलों के साथ संघ का नाम नहीं आना चाहिए और अलग से 'बसटियन गार्ड' के नाम से काम किया जाए।" सच के पूरी तरह सामने आ जाने के बावजूद न तो इन दक्षिणपंथी फ़ासीवादी संगठनों के खिलाफ कोई कार्रवाई हुई है और न ही संघ के मिलेट्री स्कूल के खिलाफ, बेशक देश भर में जनहित में काम करने वाले कार्यकर्ता लगातार मिलेट्री प्रशिक्षण के इन स्कूलों को बंद करवाने के लिए आवाज उठा रहे हैं।

साम्प्रदायिकता और फ़ासीवाद महज वोट बटोरने वाली राजनीति नहीं, पूँजीवादी ढाँचे में इसकी भूमिका कहीं बड़ी और ख़तरनाक होती है

अक्सर साम्प्रदायिकता और फ़ासीवाद को इन अर्थों में लिया जाता है-

इस साल
दंगा बहुत बड़ा था
ख़ूब हुई ख़ून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल मतदान की...

यह बात अपने आप में सही है, मगर यहीं तक रुक जाना साम्प्रदायिकता और फ़ासीवाद की जोड़ी की भूमिका को बहुत छोटा कर देखना होगा। इसकी भूमिका पूँजीवादी ढांचे के अंदर कहीं बड़ी है। फ़ासीवाद पूँजीवादी ढांचे के अंदर 'खूंटे से बंधे कुत्ते' की तरह होता है जिसकी जंजीर पूँजीपति वर्ग के हाथों में रहती है। पूँजीवादी ढांचे के अंदर इसकी मौजूदगी लगातार बनी रहती है। जैसे ही पूँजीपति वर्ग के लिए सत्ता के दूसरे रूपों जैसे संसदीय जनवाद के द्वारा लोगों पर अपना नियंत्रण रखना और पूँजीवादी लूट को जारी रखना असंभव हो जाता है उसी समय फ़ासीवाद का क्रूर खंजर वक्त के अँधेरे कोनों से निकल के सामाजिक रंगमंच पर आ प्रकट होता है और अपने आकाओं, वित्तीय पूँजी की सेवा में मेहनतकश लोगों पर टूट पड़ता है।

पूँजीवाद के विकास के साथ सामाजिक दौलत कुछ हाथों में केंद्रित होती जाती है और मजदूरों, किसानों और निम्न-मध्यवर्ग की बड़ी आबादी की हालत बद से बदतर होती चली जाती है। फिर जैसे ही पूँजीवाद के 'बूम' का समय (जो आजकल पूँजीवादी ढांचे के लिए बीती बात हो गयी है, अब तो मंदी से थोड़ी राहत को 'अच्छा वक्त आ गया है' कहकर बुर्जुआजी खुद को सान्त्वना दे लेती है) खत्म होता है, मजदूरों, किसानों और निम्न-मध्यवर्ग की हालत और तेजी से खराब होती है। परिणामस्वरूप एक तरफ जहाँ मजदूरों की बड़े पैमाने पर छंटनी होती है और उनमें बेरोजगारी तथा भुखमरी फैलती है, वहीं मध्यवर्ग को भी अपना अंत समय नजदीक दिखाई देने लगता है। उसके छोटे मोटे कारोबार बंद होने, नौकरी जाने और महंगाई के बढ़ने के कारण उसके लिए भयंकर तबाही आती है और यह वर्ग छटपटाता है। लोगों के भीतर सामाजिक ढांचे के खिलाफ गुस्सा, बेचैनी और बगावत की भावना फैलने लगती है। ऐसे समय में अगर लोगों को सही अगुवाई मिलती है तो क्रान्ति की संभावना भी पैदा होती है। यही वह समय होता है जब राज्य करने वाले वर्ग के लिए परम्परागत तरीकों से लोगों पर हुकूमत करना संभव नहीं रहता और उसके पास फ़ासीवाद के पैरों में गिरने के अलावा और कोई चारा नहीं रहता क्योंकि जहाँ एक तरफ फ़ासीवाद वित्तीय पूँजी का पक्का सेवक होता है, वहीं उसका समाज के अलग-अलग तबकों में व्यापक आधार भी होता है, खास तौर पर मध्यवर्ग और किसानों में और कुछ हद तक मजदूरों में भी। फ़ासीवाद एक लहर की तरह आगे बढ़ता है। फ़ासीवाद पूंजीवादी लूट और इसकी मुनाफे की अंधी हवस से जन्मे हुए संकट के कारण पैदा हुई बेरोजगारी, और भुखमरी के लिए समाज के किसी एक तबके को, जो आम तौर पर नस्ली या धार्मिक अल्पसंख्यक होता है, को समस्याओं का असली कारण बनाकर पेश करता है, लोगों में इनके खिलाफ पूरी ताक़त से हमला करने के लिए प्रचार करता है और उदाहरण पेश करने के लिए कुछ वारदातों को अंजाम देता है। ये लोगों को संकट से राहत के लिए चमत्कारी तरीके सुझाता है जिसमें लोगों को बहुत कुछ करने की ज़रूरत नहीं होती और ऐसे ही तरीके मध्यवर्ग और किसानों को सब से ज्यादा भाते हैं। देश के पुराने समय की महानता का , खास धर्म, नस्ल या जाति के संसार के सर्वोत्तम मनुष्य होने का, पड़ोसी मुल्कों से देश की सुरक्षा को ख़तरे का, युद्ध का गुणगान, देश भक्ति का तीखा और लगातार तेज प्रचार फ़ासीवाद का मुख्य हथियार होता है। फ़ासीवाद के रावण की तरह दस सिर होते हैं और लोगों को अपने असली एजेंडे के बारे में कुछ भी समझ न आने देने के लिए हर मुंह से अलग-अलग राग अलापना उसका आम तरीका होता है। विरोधियों को अपने भाड़े के गुंडों द्वारा ठिकाने लगाना हर फ़ासीवादी पार्टी और उसके संगठनों के मुख्य लक्षणों में से एक है, अक्सर ऐसे हमले मध्यवर्गीय निराश, बेरोजगार नौजवानों को बहुत बहादुरी भरे कारनामे दिखाई देते हैं और वो फ़ासीवादी गुंडा गिरोहों के रंगरूट बनते हैं। फ़ासीवाद लगातार यह कूक-पुकार लगाता है 'देखो काम तो हम करते हैं बाक़ी सब मीटिंगे करते हैं, बयान देते हैं और देश को, धर्म को नुकसान पहुँचाने की साजिशें करते हैं और दूसरे देशों के इशारों पर नाचते हैं'। फ़ासीवाद खुद को संकट से निजात दिलाने वाली एक ताक़त बनाकर पेश करता है और अपने हक में व्यापक जनमत बना लेता है जिसमें पूँजीपतियों के कब्जे वाला मीडिया, अखबार, टीवी, और अब इंटरनेट भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऐसे समय में अगर कोई लोकहित वाली राजनीतिक धारा मौजूद नहीं है, कमजोर है या भ्रष्ट होकर रास्ते से भटक चुकी है तो फ़ासीवाद आसानी से लोगों को अपनी जकड में ले लेता है, और फिर शुरू होता है जुल्म और मौत का तांडव। सत्ता हासिल करने से पहले मुख्य निशाना अल्पसंख्यक समुदाय बनते हैं, और जैसे ही फ़ासीवादी सत्ता संभालते हैं अपने असली रूप में आ जाते हैं। अब इनके निशाने पर किसान और मध्यवर्ग समेत दबे-कुचले मेहनतकश तबके और पूँजीवादी लूट, दमन का विरोध करने वाली ट्रेड यूनियनें और राजनीतिक नेता, बुद्धिजीवी लेखक और कलाकार होते हैं। फ़ासीवाद वित्तीय पूँजी की सेवा करते हुए पूँजीवाद का विरोध करने वाली हर आवाज, हर साँस का गला दबाने के लिए गुंडा टोलियों, राज्य की फौज, पुलिस का इस्तेमाल करता है और देश का कोना-कोना इंसानी खून से रंग देता है। बेशक तब फ़ासीवाद का सामाजिक आधार बनने वाले मध्यवर्ग और दूसरे तबकों को असली खेल समझ में आता है लेकिन तबतक बहुत देर हो चुकी होती है, अब उनके पास खुद फ़ासीवादी कुत्तों की खुराक बनने या घरों में छुप कर पूजा-पाठ करने और दरवाज़े-खिड़कियों के सुराखों के बीच से गलियों में चलती कत्लो-गारत देखने के अलावा कोई चारा नहीं होता।

फ़ासीवाद के उभार के ऐतिहासिक कारक

पूंजीवादी ढांचे का संकट फ़ासीवाद के उभार और उसके सत्ता में आने के लिए ज़रूरी शर्त तो है ही, पर कुछ ऐतिहासिक कारक हैं जो किसी खास देश में ऐसा होने में अहम भूमिका अदा करते हैं। पहला है, पूँजीवादी विकास और जमीन्दारी उन्मूलन किसी क्रान्ति का परिणाम न होकर एक ऊपर से थोपे गए क्रमबद्ध चरणों का परिणाम होता है जिसके कारण बुर्जुआजी द्वारा समाज के अंदर जनवादी मूल्य-मान्यताओं को फैलाते हुए सामन्ती मानसिकता और धर्म का दबदबा तोड़ने का जो ऐतिहासिक कार्य करना होता है वो नहीं हो पाता। इस कारण पूँजीवाद आपनी बीमारियाँ लेकर आता है। वही पुरानी सामन्ती बीमारियाँ

(पेज 13 पर जारी)

दुश्मन द्वारा हमला किया जाना बुरी बात नहीं बल्कि अच्छी बात है – माओ त्से-तुङ

क्या वजह है कि जापान-विरोधी सैनिक और राजनीतिक कालेज देशभर में मशहूर हो गया है और विदेशों में भी इसने कुछ प्रतिष्ठा अर्जित की है? क्योंकि जापान-विरोधी सभी संस्थानों में यह सबसे क्रांतिकारी, सबसे प्रगतिशील और राष्ट्रीय मुक्ति तथा सामाजिक स्वतंत्रता के लिए सबसे अच्छा योद्धा है। मेरे खयाल से, यही वह वजह है कि येनान आने पाले लोग इसे देखने के लिए इतने उत्सुक रहते हैं।

यह कालेज क्रांतिकारी और प्रगतिशील है क्योंकि यहां के स्टाफ के लोग व अध्यापक और यहां के पाठ्यक्रम, दोनों ही क्रांतिकारी और प्रगतिशील हैं। इस क्रांतिकारी और प्रगतिशील चरित्र के बिना यह देश और विदेश की क्रांतिकारी जनता की सराहना नहीं पा सकता था।

कुछ लोग कालेज पर हमला करते हैं। वे देश के आत्मसमर्पणवादी और कटर कम्युनिस्ट-विरोधी लोग हैं। इससे यही पता चलता है कि कालेज बहुत क्रांतिकारी और प्रगतिशील है, वरना वे इस पर हमला नहीं करते। आत्मसमर्पणवादियों और कटर कम्युनिस्ट-विरोधियों के जोरदार हमले इसके क्रांतिकारी और प्रगतिशील चरित्र का प्रमाण हैं और इनसे कालेज की शान बढ़ती है। यह केवल इस कारण से एक शानदार सैनिक संस्थान नहीं है कि बहुसंख्यक जनता इसका समर्थन और सराहना करती है, बल्कि इसलिए भी है क्योंकि आत्मसमर्पणवादी और कटर कम्युनिस्ट-विरोधी पूरा जोर लगाकर इस पर हमला करते हैं और इसे बदनाम करते हैं।

मैं मानता हूं कि अगर किसी व्यक्ति, राजनीतिक दल, सेना या स्कूल पर दुश्मन हमला नहीं करता तो हमारे लिए यह बुरी बात है क्योंकि इसका निश्चित रूप से यह मतलब होता कि हम दुश्मन के स्तर तक नीचे सरक आये हैं। दुश्मन द्वारा हमला किया जाना अच्छा है क्योंकि यह साबित करता है कि हमने दुश्मन और अपने बीच एक स्पष्ट विभाजक-रेखा खींच दी है। अगर दुश्मन हम पर उन्मत्त होकर हमला करता है और हमें किसी भी गुण से रहित एकदम काले रूप में चित्रित करता है तो यह और भी अच्छा है। यह दिखाता है कि हमने न केवल दुश्मन और अपने बीच एक स्पष्ट विभाजक-रेखा खींच दी है बल्कि अपने काम में काफी कुछ हासिल भी कर लिया है।

पिछले तीन वर्ष में जापान-विरोधी सैनिक और राजनीतिक कालेज ने दसियों हजार संभावनाशील, प्रगतिशील और क्रांतिकारी युवा छात्रों को प्रशिक्षित करके देश को, राष्ट्र को और समाज को भारी योगदान किया है। निश्चित तौर पर यह देश, राष्ट्र और समाज को और भी योगदान करता रहेगा क्योंकि यह बड़ी संख्या में ऐसे युवा छात्रों को प्रशिक्षित करता रहेगा। कालेज की बात करते हुए लोग अक्सर इसकी तुलना उत्तरी अभियान से पहले की वांपोआ सैनिक अकादमी से करते हैं। दरअसल, दोनों संस्थानों में कई समानताएं और अंतर हैं। समानता यह है कि दोनों में ही अध्यापकों और छात्रों में कम्युनिस्ट मौजूद थे। अंतर यह है कि जहां वांपोआ सैनिक अकादमी के मुख्य नेता और बहुसंख्यक छात्र क्वोमिंताङ के सदस्य थे, वहीं जापान-विरोधी सैनिक और राजनीतिक कालेज का पूरा नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में है और छात्रों की भारी बहुसंख्या या तो कम्युनिस्ट है या कम्युनिस्टों की ओर रुझान रखती है। इस वजह से, आज का जापान-विरोधी सैनिक और राजनीतिक कालेज अतीत की वांपोआ सैनिक अकादमी से अवश्य ही अधिक क्रांतिकारी और प्रगतिशील है और यह निश्चित रूप से राष्ट्रीय मुक्ति और सामाजिक स्वतंत्रता में अधिक बड़ा योगदान करेगा।

कालेज की शैक्षिक नीति एक दृढ़ और सही राजनीतिक दिशा, एक अध्यवसायपूर्ण और सरल कार्यशैली तथा लचीली रणनीति और रणकौशल में दीक्षित करना है। जापान-विरोधी क्रांतिकारी सैनिक बनने के लिए ये तीन बुनियादी बातें हैं। इन बुनियादी बातों के अनुसार ही स्टाफ के लोग सिखाते हैं और छात्र सीखते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में कालेज की प्रगति और विकास के साथ ही कुछ कमियां भी रही हैं। यह बढ़ा है, लेकिन कठिनाइयां भी उभरकर आयी हैं। मुख्य कठिनाई धन, शिक्षकों और शिक्षण सामग्री की कमी की है। लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में कालेज इसी कठिनाई से नहीं डरता और निश्चित रूप से उन पर विजय पा लेगा। कम्युनिस्टों के लिए कठिनाई जैसी कोई चीज नहीं होती क्योंकि वे उन पर विजय पा सकते हैं।

यह मेरी और पूरे देश की जनता की आशा है कि कालेज अपनी कमियों को दूर करेगा और अपनी तीसरी वर्षगांठ के बाद और भी प्रगतिशील बन जायेगा।

कालेज के अध्यापको, स्टाफ के सदस्यो और छात्रो, आइये, हम अपने प्रयासों को दुगुना कर दें!

(चीनी जनता के जापान-विरोधी सैनिक और राजनीतिक कालेज की स्थापना की तीसरी वर्षगांठ के अवसर पर) 26 मई 1939

इनके नापाक इरादों को नाकाम करना ही होगा!

(पेज 12 से आगे)

समाज में बनी रहती हैं जिसके चलते फ़ासीवादी विचारों के तेजी से जड़ जमाने की जमीन तैयार होती है। दूसरा है, पूँजीवाद का तेज विकास जो समाज में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को बहुत तेज कर देता है, एक मध्यवर्ग जो किसी भी तरह की जनवादी चेतना से विहीन होता है, तेजी के साथ पैदा होता है और उसी तेजी के साथ बर्बाद होता है। किसानी में यही हाल होता है, छोटे और मध्यम किसान वर्ग किसी क्रान्ति के जरिए नहीं, बल्कि बुर्जुआजी के अपने हित में किये गए भूमि सुधारों के कारण कुछ जमीन के टुकड़े हासिल करते हैं पर पूँजीवाद का विकास उससे यह टुकड़ा छीन लेता है और उसको सड़क पर आने या मजदूरी करने के लिए मजबूर कर देता है। ऐसे में किसान अपने पुराने 'सुनहरे युग' कि कल्पना करता है, बेशक ऐसा युग कभी नहीं था। इतना ज़रूर था कि वो कभी सुखी, कभी दुखी रहकर अपने परिवार का पेट पाल लेता था। इसके साथ ऐसे देशों में सामन्ती भूमिपतियों या सामन्ती भूमिपतियों से पूँजीवादी भूमिपति बने बड़े जमींदारों का एक तबका समाज में मौजूद होता है जो हद दर्जे का पश्चगामी और जनवाद तथा क्रान्ति का विरोधी होता है। ये भूमिपति औद्योगिक तथा वित्तीय पूँजी के साथ अपने विरोधों के बावजूद फ़ासीवाद को वित्तीय मदद और गुंडों की टोलियाँ उपलब्ध करवाते हैं और बड़े पूंजीपति वर्ग के साथ ही फ़ासीवाद का जबरदस्त आधार बनते हैं।

तीसरा है, किसी भी क्रन्तिकारी ताक़त का मौजूद न होना या फिर कमजोर होना जो ऐसे समय में प्रचार-प्रोपेगंडा करते हुए संकट के असली कारणों और उसके निदान के बारे में लोगों के बीच जाती हैं, समाज के उन वर्गों को जो क्रान्ति की ताक़तें होती हैं लामबंद और संगठित करती हैं तथा ढुलमुल तबकों को प्रभावहीन करते हुए पूँजीवाद को पलटने के किये आगे बढ़ती हैं। चौथा है, संशोधनवादी पार्टियों की मेहनतकशों के साथ गद्दारी और लोगों को क्रान्ति के लिए तैयार करने की बजाय उनकी तनख्वाहों, उजरतों में चवन्नी-अठन्नी की बढ़ोतरी करवाने की लड़ाई लड़ते रहना। इतिहास इस बात का गवाह है कि दुनिया के जिस देश में फ़ासीवाद का उभार हुआ है और ये सत्ता पर काबिज हुआ है वहाँ के संशोधनवादियों की ऐसी नीतियों का फ़ासीवादियों ने फायदा उठाया और उनको आम लोगों से अलग कर दिया, यहाँ तक कि उनको लोगों की नज़रों में देश का दुश्मन साबित कर दिया। यही सब कुछ भारत में भी हो रहा है। भारत के भाकपा, माकपा और लिबरेशन ब्रांड के "कम्युनिस्ट" यही कुछ कर रहे हैं। लोगों में काम के नाम पर ये सरकारी कर्मचारियों के लिए तनख्वाह कमीशन की सिफारिशों को लागू करवाने, मजदूर इलाकों में फैक्ट्री मालिकों के लिए दलाली करने, हर साल-छमाही के बाद देश स्तरीय हड़ताल का 'स्टेज-शो' करने, साम्प्रदायिकता विरोध के नाम पर काँग्रेस तथा अन्य बुर्जुआ पार्टियों से मिलकर 'साझा मोर्चा' बनाने और कभी-कभी काँग्रेस से दूर होकर 'तीसरा मोर्चा' बनाने का नाटक करने और बुर्जुआ राजनीति की तरह घटिया संसदीय जोड़-तोड़ करके वोटों का जुगाड-पानी करने के सिवा कुछ नहीं करते। आम लोगों को शिक्षित करने, राजनीतिक चेतना देने और इस काम के लिए प्रचार करने का काम न तो इन्होंने किया है और न ही भविष्य में इसकी कोई संभावना है क्योंकि अब ये क्रान्ति से उतना ही दूर हैं जितना गंदे पानी में उगी हुई 'जलकुंभी' से खुशबू।

हमें समझ लेना चाहिए कि फ़ासीवाद का मुकाबला इंडिया गेट पर या शहर के किसी खास चौक पर दो चार मोमबत्तियाँ जलाकर, "मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना" जैसे उपदेशों से, साल-दो साल बाद सेमिनार, गोष्ठी, मुशायरा करके, तनख्वाहों-उजरतों में बढ़ोतरी की लड़ाईयाँ लड़कर नहीं होगा और न ही फासीवादी दानव 'इसको गुस्सा न करें', 'इसको मत ही छेड़ो' जैसी बिल्ली को देख कर कबूतर के आँख बंद कर लेने जैसी डरपोक किस्म की सुरक्षात्मक हरकतों से पीछे हटने वाला है क्योंकि फ़ासीवादी गुंडे जब दस्तक देंगे तो वह नहीं सुनने वाले कि 'हम ने तो कभी आप के विरुद्ध कुछ नहीं कहा', हाँ वो ऐसी कायरता पे हँसेगे ज़रूर। फ़ासीवाद के मुकाबले के लिए इसके उभार के कारणों को समझते हुए लोगों में लगातार, घना और तीखा प्रचार करना होगा। फ़ासीवादियों के इतिहास और वर्तमान से संबंधित हर झूठ को नंगा करना होगा और साथ ही पूँजीवाद के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक ढांचे के तार-तार को उधेड़ कर लोगों के सामने इसे नंगा करना होगा। फ़ासीवाद के असल एजेंडे के बारे में लोगों का भ्रम तोड़ना होगा और उन्हें इसके बौद्धिक और सांस्कृतिक हमले का मुकाबला करने के लिए ज़रूरी ज्ञान और चेतना से लैस करना पड़ेगा। इस के लिए लगातार पर्चे, पैम्फ्लेट बाँटना, सेमिनार, गोष्ठियों, सभाओं का आयोजन करना, इतिहास और वर्तमान से संबंधित फ़ासीवादी झूठों को बेनकाब करते लेखों को लोगों की भाषा में उन तक पहुँचाना, नाटक, फिल्मों और गीत-संगीत के जरिए लोगों को फ़ासीवाद के कारनामों से रूबरू करवाना होगा। ऐसा समाज के हर तबके में जाकर करना होगा। लोगों की आर्थिक और राजनीतिक लड़ाई की अगुवाई और सुधार कामों से फ़ासीवादियों को बाहर करना होगा तथा लोगों को फ़ासीवाद के खिलाफ सड़कों पर होने वाली लड़ाई के लिए तैयार करना होगा। समाज के नौजवानों, बुद्धिजीवियों, कलाकारों, लेखकों को इस ऐतिहासिक जिम्मेदारी को समझते हुए लोगों के बीच जाना, उन के साथ एक होने की हिम्मत करनी पड़ेगी। साथ ही यह समझ लेना भी ज़रूरी है कि मजदूर वर्ग की शक्तिशाली एकता के बगैर फ़ासीवाद का प्रभावशाली तरीके से मुकाबला करना संभव नहीं है, इसलिए मजदूर वर्ग को सचेत करना तथा इसकी एकता कायम करना फ़ासीवाद के खिलाफ लड़ाई में फ़ैसलाकुन भूमिका निभाएगा। अगर समाज को आगे ले जाने वाली ताक़तें सही समय तक अपनी ताक़त जुटा लेती हैं, सही रणनीति तैयार कर लेती हैं तो फ़ासीवाद के लिए आगे बढ़ना इतना आसान भी नहीं होगा और उसकी हार की संभावनाएं बढ़ जाएँगी, नहीं तो वही होगा जिसकी चेतावनी हिटलर के जमाने में जर्मनी के एक पादरी पास्टर निमोलर ने दी थी-

पहले वे यहूदियों के लिए आए
मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं यहूदी नहीं था
फिर वे ट्रेडयूनियन वालों के लिए आए
मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं ट्रेड यूनियन में नहीं था
फिर वे कम्युनिस्टों के लिए आए
मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं कम्युनिस्ट नही था
फिर वे मेरे लिए आए
और तब तक कोई नहीं बचा था
जो मेरे लिए बोलता.....

वे फिर आ रहे हैं। फ़ासीवादी सक्रिय हैं।

* फ़ासीवाद- एक राजनीतिक रुझान जो पूँजीवाद के व्यापक संकट के समय में पूंजीवादी देशों में उभरा और जिसने साम्राज्यवादी बुर्जुआजी की सब से पिछलग्गू और हमलावर शक्तियों के हित प्रकट किये। सत्ता में आया फ़ासीवाद इन ताक़तों की एक खुल्लमखुल्ला आतंकी तानाशाही होता है। फ़ासीवाद की विशेषता हद दर्जे का अन्धराष्ट्रवाद, नस्लवाद और कम्युनिज्म विरोध होता है। जनवाद की तबाही, सामाजिक दंभ का विशाल पैमाने पर प्रदर्शन और नागरिकों के जनतांत्रिक तथा निजी जीवन पर अत्यंत सख्त नियंत्रण होता है। फ़ासीवाद की विदेश नीति प्रसार और हमलावर जंगों की नीति होती है। पहली फ़ासीवादी हुकूमत 1922 में इटली में आई थी। फ़ासीवादी 1933 में जर्मनी में और 1939 में स्पेन में सत्ता में आए। हमारे देश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इस रुझान का प्रतिनिधित्व करता है।

आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र की आलोचना

(पेज 16 से आगे)

पार्टी का राजनीति से अर्थ बुर्जुआ चुनावी राजनीति से है और इसे भ्रष्टाचार और अपराध से मुक्त कर दिया जाय तो उन्हें बुर्जुआ राजनीति से कोई शिकायत नहीं है। पहली बात तो यह कि पूँजीवादी चुनावी राजनीति कभी भ्रष्टाचार-मुक्त हो ही नहीं सकती है; ऐसा सोचना आकाश-कुसुम की अभिलाषा करने के समान है कि लोकपाल कानून के भय से सारे राजनीतिज्ञ मि. सुथरा बन जायेंगे और देशभक्ति और समाजसेवा में लग जायेंगे! मूल सवाल यहाँ भी यही है कि राजनीतिक वर्ग आज उन्हीं वर्गों की सेवा में संलग्न है जिनके पास उत्पादन के साधनों और पूँजी का मालिकाना है। और अगर केजरीवाल की व्यवस्था में भी यह मालिकाना उनके ही पास रहेगा तो उनकी व्यवस्था में भी कानूनी तौर पर निर्णय लेने में सभी को भागीदारी दी जायेगी, लेकिन अन्ततः सुनी उन्हीं की जायेगी जिनके पास समाज के समस्त संसाधनों पर नियन्त्रण होगा। इसलिए यह सोचना कि किसी कानून के ज़रिये पूँजीवादी राजनीति में संलग्न पार्टियों के नेताओं को सुधारा जा सकता है, यही बताता है कि या तो केजरीवाल बहुत सयाने बन रहे हैं और जनता को मूर्ख बना रहे हैं, या फिर वे सच में बेहद मूर्ख हैं। यहाँ यह भी ग़ौरतलब है कि राज्यसत्ता पर काबिज़ लोगों को भ्रष्ट या ईमानदार के रूप में पेश किया गया है, लेकिन किसी वर्ग के प्रतिनिधि के तौर पर नहीं। जैसे कि समाजसेवा और देशभक्ति वाली राजनीति के मॉडल के तौर पर गाँधी का सन्दर्भ दिया गया है। लेकिन सभी जानते हैं कि गाँधी अपने व्यक्तिगत मानवतावाद आदि के बावजूद किसी वर्ग की ही सेवा कर रहे थे। गाँधी का ही सिद्धान्त था कि उत्पादक जनता के हाथों में उत्पादन के साधनों का मालिकाना नहीं सौंपा जाना चाहिए; गाँधी के अनुसार पूँजीपति वर्ग को ही 'न्यासी' (ट्रस्टी) के तौर पर उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण कायम रखना चाहिए। पूँजीपति मज़दूरों के अभिभावक और कुशल, ज़िम्मेदार और मानवतावादी स्वामी के रूप में उभरता है! केजरीवाल भी अगर राजनेताओं को किसी वर्ग के नुमाइन्दे के तौर पर नहीं बल्कि "अच्छे" बनाम "बुरे", "भ्रष्ट" बनाम "ईमानदार" के रूप में पेश कर रहे हैं, तो साफ़ तौर पर वे अपनी प्रस्तावित व्यवस्था के बारे में सबसे बुनियादी सवालों पर गोल-मोल कर रहे हैं। मसलन, इस प्रस्तावित व्यवस्था में सत्ता वास्तविक तौर पर किनके हाथों में होगी? उत्पादन के साधनों का मालिकाना किनके हाथों में होगा? और इसी गोलमगोल में केजरीवाल का असली मकसद भी साफ़ हो जाता है–पूँजीवादी व्यवस्था के कपड़ों से दाग-धब्बे (यानी दागी मन्त्री, नेता, नौकरशाहों, आदि) को साफ़ करने का भ्रामक वायदा कर उसकी हिफ़ाज़त करना। यह एक दीगर बात है कि यह भी सम्भव नहीं है, लेकिन कम-से-कम टटपुँजिया और सबसे जल्दी भ्रमित होने वाले मध्यवर्गीय जनता के एक हिस्से को केजरीवाल कुछ समय के लिए उल्लू बनाने में सफल हो ही जायेंगे।

इसके बाद घोषणापत्र में शुरू होती है आम आदमी पार्टी द्वारा भ्रष्टाचार समेत हर सामाजिक बुराई को दूर करने की मैराथन मुहिम। इस मुहिम की शुरुआत केजरीवाल एण्ड पार्टी के सबसे पसन्दीदा विषय भ्रष्टाचार-दलन से होती है। 'आह्वान' में प्रकाशित अलग-अलग लेखों में भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान के चरित्र, राजनीति, विचारधारा सम्बन्धी प्रश्नों को लगातार उठाया गया है। जनलोकपाल कानून के विषय में भी 'आह्वान' के पिछले अंकों में लिखा गया है। इस घोषणापत्र में साफ़ शब्दों में कहा गया है कि जनलोकपाल कानून के तहत लोग नेताओं और कर्मचारियों के ख़िलाफ़ शिकायत दर्ज़ करा सकते हैं। सिर्फ़ नेता और कर्मचारी ही क्यों? बड़े-बड़े कारपोरेट घराने, मीडिया घराने, एन.जी.ओ. आदि के ख़िलाफ़ क्यों नहीं? अगर केजरीवाल एण्ड पार्टी भ्रष्टाचार को लेकर इतनी ही चिन्तित है तो फिर हर तरह के भ्रष्टाचार को क्यों नहीं निशाना बनाया गया है? यह तथ्य अपने आप में ही भ्रष्टाचार-विरोधी इस मण्डली के बारे में काफ़ी-कुछ बताता है। केजरीवाल के एन.जी.ओ. को खुद फोर्ड फाउण्डेशन और इसी जैसी कई साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों से पैसा मिलता है। इसलिए एन.जी.ओ. और तमाम ऐसी एजेंसियों के ख़िलाफ़ एक शब्द भी नहीं बोलना उनके लिए लाज़िमी है। जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं कि भ्रष्टाचार अपने आपमें कोई समस्या नहीं है, बल्कि जो समस्या स्वयं यह व्यवस्था है उसका एक लक्षण मात्र है। पहले तो आप एक ऐसी व्यवस्था दे रहे हैं जिसमें पूँजी की सत्ता सर्वोपरि है, किसी भी कीमत पर मुनाफ़ा कमाना धार्मिक काम के समान है, लोभी और लालची होना व्यावहारिकता का परिचायक है, वहाँ भ्रष्टाचार पर हाय-तौबा मचाना और उस व्यवस्था को कठघरे में खड़ा न करना जो इस भ्रष्टाचार के लिए उर्वर ज़मीन तैयार करती है तो या तो इसे अव्वल दर्ज़े का घाघपन कहा जा सकता है या फिर हद दर्ज़े की मूर्खता! ऐसे किसी भी व्यवस्था में भ्रष्टाचार पर नैतिक उपदेश देते रहने से न तो भ्रष्टाचार की ही सेहत पर कोई फर्क पड़ेगा और न ही उस व्यवस्था की सेहत पर ही जो इस भ्रष्टाचार को जन्म देती है।

इसके बाद केजरीवाल एण्ड पार्टी सामाजिक विषमता, भेदभाव और जातिवाद के ख़ात्मे का बीड़ा उठाती है। इस समस्या के समाधान के लिए वे कोई नया नुस्खा नहीं सुझाते, बल्कि आरक्षण को ही लागू करने की बात करते हैं, हालाँकि उनके अनुसार देश की हर पार्टी ने आरक्षण देने के नाम पर केवल वोट बैंक की राजनीति ही की है। केजरीवाल एण्ड कम्पनी किस तरह इन पार्टियों से इस मुद्दे पर भिन्न है, इसे बताना वे ज़रूरी नहीं समझते। इसके तुरन्त बाद वे अपना सुर थोड़ा बदलते हैं और कहते हैं कि सिर्फ़ आरक्षण से भी काम नहीं चलेगा। तो फिर किससे काम चलेगा? आरक्षण के साथ-साथ जाति और धर्म से ऊपर उठकर बच्चों को मुफ्त और उच्च कोटि की शिक्षा भी देनी होगी। प्रस्ताव तो ठीक है, लेकिन इसके लिए जो रास्ता उन्होंने सुझाया है वह है सभी सरकारी स्कूलों को अच्छे प्राईवेट स्कूलों के बराबर लाया जाय, सरकारी स्कूलों में शिक्षा के स्तर को सुधारा जाय और अच्छे प्राईवेट स्कूलों के स्तर का बनाया जाय। केजरीवाल एण्ड पार्टी के अनुसार, इससे न केवल पिछड़े तबके के बच्चों का भविष्य सुधरेगा, बल्कि आर्थिक रूप से कमज़ोर बच्चों का भी भविष्य बेहतर होगा। लेकिन सोचने का बात यह है कि अगर सरकारी स्कूलों को ही प्राईवेट स्कूलों जैसा बेहतर बना दिया जाता है (हालाँकि इस दावे पर भी सवाल खड़े किये जा सकते हैं कि प्राईवेट स्कूल ही कौन-से आदर्श स्कूल हैं) और सभी बच्चों को निशुल्क स्तरीय शिक्षा देना सरकार की ज़िम्मेदारी बना दी जाय तो फिर प्राईवेट स्कूलों की ज़रूरत ही क्यों? शिक्षा में निजी पूँजी का निवेश ही क्यों हो? जब तक शिक्षा में निजी पूँजी की लॉबी काम करेगी, तब तक सरकारी स्कूलों की बेहतरी सम्भव ही नहीं है। अन्यत्र केजरीवाल एण्ड पार्टी घोषणापत्र में स्वास्थ्य, शिक्षा एवं अन्य क्षेत्रों में निजी पूँजी निवेश पर अपनी अवस्थिति एकदम स्पष्ट कर देते हैं। वह कहते हैं कि सरकारी सेवाओं को बेहतर बनाने का कतई यह अर्थ नहीं है कि उनकी पार्टी निजी पूँजी निवेश के ख़िलाफ़ है। सरकारी स्कूलों और अस्पतालों की सुविधाओं को बेहतर करने का कतई यह मतलब नहीं है कि निजी स्कूल और अस्पताल अपना धन्धा चलाने से वंचित कर दिये जायेंगे। इस पूरे मसले पर इस पार्टी की वर्ग अवस्थिति एकदम स्पष्ट है।

घोषणापत्र के अगले हिस्से में आम आदमी पार्टी ने अपना आर्थिक दृष्टिकोण पेश किया है। इसका विश्लेषण कुछ इस तरह शुरू होता है–"देश की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग केवल सौ घरानों के हाथ में है और दूसरी तरफ़ देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या 20 रुपये प्रतिदिन से भी कम पर गुज़ारा करती है। क्या अमीरों और ग़रीबों के बीच में इतनी बड़ी खाई अच्छी बात है?" नहीं केजरीवाल साहब! यह कतई अच्छी बात नहीं है! यानी यह खाई कम हो तो चलेगा! ख़ैर! लेकिन इस "इतनी बड़ी खाई" को लेकर आपका यह उपदेशात्मक टोन क्या पूरे घोषणापत्र में बरकरार रहेगा? केजरीवाल एण्ड पार्टी ग़रीबों की हालत के लिए मौजूदा आर्थिक नीतियों को दोषी ठहराती है। इसके बाद अमीरी और ग़रीबी के इस फर्क का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह हास्यास्पद है। यहाँ कहीं भी पूँजीवाद में अन्तर्निहित आर्थिक विषमता की कोई पड़ताल नहीं है। पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों और पूँजीवादी वितरण तन्त्र की कोई पड़ताल नहीं है। बल्कि एक बार फिर भ्रष्टाचार को ही इस आर्थिक गैर-बराबरी के लिए ज़िम्मेदारी ठहराया गया है। इसको वे इस प्रकार समझाते हैं–"यदि कोई व्यक्ति सरकार से आज डेढ़ हज़ार करोड़ का टू जी स्पेक्ट्रम का लाइसेंस ख़रीदकर दस दिन बाद उसे छह हज़ार करोड़ में बेच दे और हज़ारों करोड़ का मुनाफ़ा बना ले तो क्या इसे जायज़ ठहराया जाना चाहिए? इस तरह से अर्जित किया धन क्या समाज, देश और लोकतन्त्र के लिए स्वस्थ है? या इसे ग़लत मुनाफ़ कमाने के लिए व्यवस्था का दुरुपयोग कहेंगे?" नहीं केजरीवाल जी! इसे तो कतई जायज़ नहीं ठहराया जा सकता है। लेकिन एक सवाल जो दिमाग़ में उठ रहा है और जिसे पूछे बग़ैर मन मान नहीं रहा है वह यह है कि क्यों यह अमुक व्यक्ति ही डेढ़ हज़ार करोड़ का टू जी स्पेक्ट्रम लाइसेंस ख़रीदने की कूव्वत रखता है और इसकी कम्पनी में काम करने वाला मज़दूर क्यों नहीं? अगर यह अमुक व्यक्ति दस दिन बाद भी उसे उतनी ही कीमत पर बेचे और आपके मुताबिक "ग़लत मुनाफ़ा" न कमाये तो क्या यह पूरी चीज़ जायज़ ठहरायी जायेगी? यानी, रोज़-ब-रोज़ फैक्ट्रियों-कारखानों, खानों-खदानों और खेतों पर जो करोड़ों-करोड़ औद्योगिक और ग्रामीण मज़दूर शोषण का शिकार होते हैं, जो कि पूँजीपतियों, उद्योगपतियों, ठेकेदारों और फार्मरों और कुलकों द्वारा किया जाता है, वह आपकी नज़र में "सही मुनाफ़ा" है, "अच्छा मुनाफ़ा" है, और सदाचार से कमाया गया मुनाफ़ा है! इसका अर्थ स्पष्ट है कि केजरीवाल के लिए दूसरों के श्रम के बूते किसी परजीवी द्वारा मुनाफ़ा कमाया जाना "सही मुनाफ़ा" है और साँठ-गाँठ और भ्रष्टाचार के ज़रिये चार सौ बीसी से कमाया गया मुनाफ़ा "ग़लत मुनाफ़ा" है! दूसरे शब्दों में कहें तो "सही मुनाफ़ा" जैसी भी कोई चीज़ होती है! दूसरी तरफ़, केजरीवाल एण्ड पार्टी उद्योगपतियों और व्यापारियों द्वारा किये जाने वाले भ्रष्टाचार को लेकर काफ़ी फ़िक्रमन्द है क्योंकि इस पार्टी के अनुसार इनमें से ज़्यादातर लोगों को यह भ्रष्टाचार मजबूरी में करना पड़ता है! इसलिए देश की आर्थिक नीतियाँ इस प्रकार से बनायी जानी चाहिए जिसमें तमाम पूँजीपतियों, उद्योगपतियों, और व्यापारियों को किसी भी मजबूरी में आकर भ्रष्टाचार करके मुनाफ़ा कमाने की नौबत ही न आये! साफ़ है कि यहाँ केजरीवाल नौकरशाहों द्वारा कुल मुनाफ़े में प्राप्त की जाने वाली हिस्सेदारी पर सवाल खड़ा कर रहे हैं। वास्तव में, मज़दूरों और मेहनतकशों के श्रम से पैदा होने वाले अधिशेष में पूँजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्से अपना-अपना हिस्सा लेते हैं, जैसे कि मालिक वर्ग, नेता-नौकरशाह वर्ग आदि। इस हिस्सेदारी को लेकर उनके बीच भी अन्तरविरोध होते हैं। केजरीवाल इस अन्तरविरोध में छोटे और बड़े मालिक वर्ग का पक्ष लेते रहे हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि उनके भ्रष्टाचार की परिभाषा में केवल नेताशाही-नौकरशाही का भ्रष्टाचार आता है, पूँजीपतियों द्वारा किया जाने वाला भ्रष्टाचार नहीं! यहाँ पर ज़ाहिर भी हो जाता है कि क्यों नहीं! क्योंकि पूँजीपति तो मजबूरी में भ्रष्टाचार करते हैं ताकि मुनाफ़े में नेताओं-नौकरशाहों की हिस्सेदारी को कम कर सकें और अपनी हिस्सेदारी को बढ़ा सकें। इसके उपचार के तौर पर केजरीवाल का मानना है कि नीतियाँ ही इस प्रकार बनायी जानी चाहिए कि नेताओं और नौकरशाहों की हिस्सेदारी वसूलने की क्षमता ख़त्म हो जाये। व्यावहारिक तौर पर इसका अर्थ है कि राज्यसत्ता द्वारा पूँजी पर थोपी गयी सभी विनियामक अनिवार्यताओं को ख़त्म कर दिया जाय। राजीव गाँधी ने भी भ्रष्टाचार को ख़त्म करने का यही रास्ता बताया था कि इंस्पेक्टर राज-कोटा राज ख़त्म कर दिया जाय, जिससे कि नेताशाही और नौकरशाही का भ्रष्टाचार ख़त्म हो। अब एक दूसरे रूप में केजरीवाल वैसा ही प्रस्ताव रख रहे हैं, हालाँकि निजीकरण-उदारीकरण के दो दशक ने दिखला दिया है कि ऐसा करने से केवल भ्रष्टाचार का रूप बदलेगा, भ्रष्टाचार ख़त्म नहीं होगा। लेकिन मालिक वर्ग की सेवा में संलग्न केजरीवाल लोगों को मूर्ख बनाने के लिए ऐसा ही प्रस्ताव रख रहे हैं, और पूँजीपतियों को 'विक्टिम' के तौर पर पेश कर रहे हैं जिन्हें "मजबूरी में भ्रष्टाचार" करना पड़ता है! यह राजनीतिक अश्लीलता का चरम है।

इसके बाद घोषणापत्र में एक-एक करके कई मुद्दों को उठाया गया है। किसानों की ज़मीनों का जबरन अधिग्रहण, किसानों को आत्महत्या करने पर मजबूर किया जाना (जो कि बेचारे पूँजीपतियों द्वारा "मजबूरी" में ही किया जाता है!), प्राकृतिक संसाधनों की लूट-खसोट (ये भी बेचारे पूँजीपति करने का मजबूर होते हैं!), महँगाई, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं को अभाव,

(पेज 2 पर जारी)

अवतार सिंह 'पाश' की दो कविताएँ

अपनी असुरक्षा से

यदि देश की सुरक्षा यही होती है
कि बिना ज़मीर होना ज़िन्दगी के लिए शर्त बन जाये
आँख की पुतली में 'हाँ' के सिवाय कोई भी शब्द
अश्लील हो
और मन बदकार पलों के सामने दण्डवत झुका रहे
तो हमें देश की सुरक्षा से ख़तरा है

हम तो देश को समझे थे घर-जैसी पवित्र चीज़
जिसमें उमस नहीं होती
आदमी बरसते मेंह की गूँज की तरह गलियों में बहता है
गेहूँ की बालियों की तरह खेतों में झूमता है
और आसमान की विशालता को अर्थ देता है

हम तो देश को समझे थे आलिंगन-जैसे एक एहसास का नाम
हम तो देश को समझते थे काम-जैसा कोई नशा
हम तो देश को समझे थे क़ुर्बानी-सी वफ़ा
लेकिन 'गर देश
आत्मा की बेगार का कोई कारखाना है
'गर देश उल्लू बनने की प्रयोगशाला है
तो हमें उससे ख़तरा है

'गर देश का अमन ऐसा होता है
कि कर्ज़ के पहाड़ों से फिसलते पत्थरों की तरह
टूटता रहे अस्तित्व हमारा
और तनख़्वाहों के मुँह पर थूकती रहे
कीमतों की बेशर्म हँसी
कि अपने रक्त में नहाना ही तीर्थ का पुण्य हो
तो हमें अमन से ख़तरा है

'गर देश की सुरक्षा ऐसी होती है
कि हर हड़ताल को कुचलकर अमन को रंग चढ़ेगा
कि वीरता बस सरहदों पर मरकर परवान चढ़ेगी
कला का फूल बस राजा की खिड़की में ही खिलेगा
अक़्ल, हुक़्म के कुएँ पर रहट की तरह ही धरती सींचेगी
मेहनत, राजमहलों के दर पर बुहारी ही बनेगी
तो हमें देश की सुरक्षा से ख़तरा है।

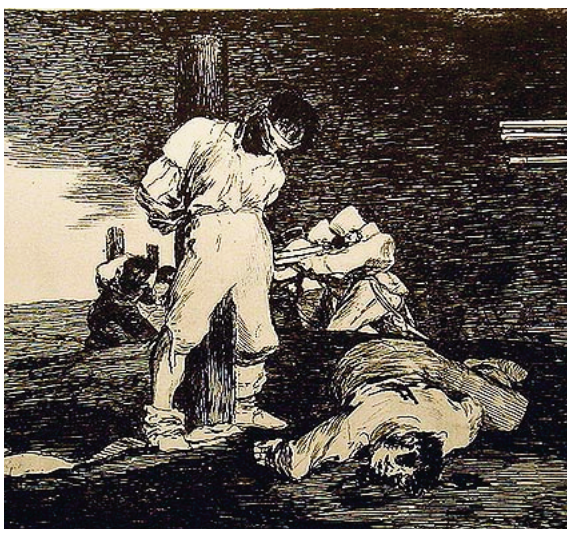

कातिल

यह भी सिद्ध हो चुका है कि
इंसानी शक्ल सिर्फ चमचे-जैसी ही नहीं होती
बल्कि दोनों तलवारें पकड़े लाल आंखोंवाली
कुछ मूर्तियां भी मोम की होती हैं
जिन्हें हल्का-सा सेंक देकर भी कोई
जैसे सांचे में चाहे ढाल सकता है

लेकिन गद्दारी की सजा तो सिर्फ एक ही होती है

मैं रोने वाला नहीं, कवि हूं
किस तरह चुप रह सकता हूं
मैं कब मुकरता हूं कि मैं कत्ल नहीं करता
मैं कातिल हूं उनका जो इंसानियत को कत्ल करते हैं
हक को कत्ल करते हैं
सच को कत्ल करते हैं
देखो, इंजीनियरो! डाक्टरो! अध्यापको!
अपने छिले हुए घुटनों को देखो
जो कुछ सफेद या नीली दहलीजों पर
टेकने से छिले हैं
अपने चेहरे की ओर देखो
जो केवल एक याचना का बिंब है
हर छिमाही दफ्तरों में रोटी के लिए
गिड़गिड़ाता बिंब!
हम भिखारियों की कोई सुधरी हुई किस्म हैं
लेकिन फिर भी हर दर से हमें दुत्कार दिया जाता है
अपनी ही नजरों को अपनी आंखों से मिलाओ
और देखो, क्या यह सामना कर सकती हैं?
मुझे देशद्रोही भी कहा जा सकता है
लेकिन मैं सच कहता हूं, यह देश अभी मेरा नहीं है
यहां के जवानों या किसानों का नहीं है
यह तो केवल कुछ ही 'आदमियों' का है
और हम अभी आदमी नहीं हैं, बड़े निरीह पशु हैं
हमारे जिस्म में जोंकों ने नहीं
पालतू मगरमच्छों ने गहरे दांत गड़ाए हैं
उठो, अपने घर के धुओं!
खाली चूल्हों की ओर देखकर उठो
उठो काम करनेवाले मजदूरो, उठो!
खेमों पर लाल झंडे लहराकर
बैठने से कुछ न होगा
इन्हें अपने रक्त की रंगत दो
(हड़तालें तो मोर्चे के लिए सिर्फ कसरत होती हैं)
उठो मेरे बच्चो, विद्यार्थियो, जवानो, उठो!
देखो मैं अभी मरा नहीं हूं
यह एक अलग बात है कि मुझे और मेरे एक बच्चे को
जो आपका भी भाई था
हक के एवज में एक जरनैली सड़क1 के किनारे
गोलियों के पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया है
आपने भी यह 'बड़ी भारी

पुलिस मुठभेड़' पढ़ी होगी
और आपने देखा है कि राजनीतिक दल
दूर-दूर से मरियल कुत्ते की तरह
पल दो पल न्यायिक जांच के लिए भौंके
और यहां का कानून सिक्के का है
जो सिर्फ आग से ही ढल सकता है
भौंकने से नहीं
क्यों झिझकते हो, आओ उठें...

मेरी ओर देखो, मैं अभी जिंदा हूं
लहरों की तरह बढ़ें
इन मगरमच्छों के दांत तोड़ डालें
लौट जाएं
फिर उठें, और जो इन मगरमच्छों की रक्षा करता है
हुक्म देने के लिए
उस पिलपिले चेहरे का मुंह खुलने से पहले
उसमें बन्दूक की नाली ठोंक दें।

– देश की स्वाधीनता के लिए जो उद्योग किया जा रहा था, उसका वह दिन निस्सन्देह, अत्यन्त बुरा था, जिस दिन स्वाधीनता के क्षेत्र में ख़िलाफ़त, मुल्ला, मौलवियों और धर्माचार्यों को स्थान देना आवश्यक समझा गया। एक प्रकार से उस दिन हमने स्वाधीनता के क्षेत्र में एक कदम पीछे हटकर रखा था। हमें अपने उसी पाप का फल भोगना पड़ रहा है। देश के स्वाधीनता के संग्राम ही ने मौलाना अब्दुल बारी और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश कर उन्हें अधिक शक्तिशाली बना दिया और हमारे इस काम का फल यह हुआ कि इस समय हमारे हाथों ही से बढ़ाई इनकी और इनके जैसे लोगों की शक्तियाँ हमारी जड़ उखाड़ने और देश में मज़हबी पागलपन, प्रपंच और उत्पात का राज्य स्थापित कर रही हैं।

– गणेशशंकर विद्यार्थी

– धर्म आज भी वैसा ही हज़ारों मूढ़ विश्वासों का पोषक और मनुष्य की मानसिक दासता का समर्थक है जैसा पाँच हज़ार वर्ष पूर्व था।... सभी धर्म दया का दावा करते हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के इन धार्मिक झगड़ों को देखिये तो मनुष्यता पनाह माँग रही है।

– राहुल सांकृत्यायन

– अब क्रान्ति में ही देश का उद्धार है, ऐसी क्रान्ति जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों और परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नयी सृष्टि खड़ी कर दे, जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।

– प्रेमचन्द ('कर्मभूमि' से)

RNI No. UPHIN/2010/36551

डाक पंजीयनः SSP/LW/NP-319/2011-2013
प्रेषित डाकघरः आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथिः दिनांक 20 प्रत्येक माह

आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र की आलोचना

भ्रष्टाचार-मुक्त सन्त पूँजीवाद के भ्रम को फैलाने का बेहद बचकाना और मज़ाकिया प्रयास

•शिवानी

'मुक्तिकामी छात्रों युवाओं का आह्वान' से साभार

सम्भव है कि आपमें से कुछ ने अरविन्द केजरीवाल एण्ड पार्टी की आम आदमी पार्टी का घोषणापत्र देखा हो। हाल ही में उसे पढ़ने का मौका मिला। पढ़ते ही यह लगा कि तीसरी या चौथी कक्षा के किसी बच्चे ने 'मेरे सपनों का भारत' नामक विषय पर निबन्ध लिख डाला है, या फिर यह भी कह सकते हैं कि लगा कि सूरज बड़जात्या ने देश को ध्यान में रखते हुए 'हम साथ-साथ हैं' या 'हम आपके हैं कौन?'-टाइप एक पारिवारिक फिल्म की पटकथा लिखी हो। केजरीवाल एण्ड पार्टी की पार्टी का यह घोषणापत्र ग़ज़ब की चमत्कारी खूबियाँ लिये हुए है। घोषणापत्र में हर समस्या का समाधान पेश किया गया है, वह भी मिनटों में! चाहे भ्रष्टाचार की समस्या हो (इसे केजरीवाल एण्ड पार्टी कैसे भूल सकती है, यह तो उनका प्रिय विषय है! इसी की वजह से तो उनका "धन्धा", मतलब कि उनका काम चल रहा है), सामाजिक भेदभाव, छुआछूत और अन्याय का मसला हो, किसानों की आत्महत्या का मुद्दा हो, या महिलाओं की स्थिति का सवाल हो–सभी का 'इंस्टैण्ट समाधान' केजरीवाल एण्ड पार्टी के घोषणापत्र में आपको मिल जायेगा। यही नहीं, अगर आप उन्हें किसी मुद्दे पर सुझाव देना चाहते हैं तो वह उस मुद्दे पर अपनी पार्टी का स्टैण्ड तक बदलने का तैयार हैं। काफ़ी खुली हुई पार्टी है यह 'आम आदमी' की पार्टी!

घोषणापत्र के कवर पर केजरीवाल एण्ड पार्टी अपनी पार्टी के उद्देश्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं: "हमारा सपना–राजनीतिक क्रान्ति"। तो बात साफ़ है–इस पार्टी का उद्देश्य महज़ देश की राजनीति (पढ़िये 'बुर्जुआ राजनीति') में व्याप्त भ्रष्टाचार का ख़ात्मा एक "राजनीतिक क्रान्ति" को अंजाम देकर करना है। पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का विकल्प पेश करना इस पार्टी के एजेण्डा पर है ही नहीं। जहाँ कहीं भी केजरीवाल एण्ड पार्टी 'व्यवस्था परिवर्तन' की बात करते हैं, वहाँ उनका मतलब सिर्फ़ और सिर्फ़ इसी किस्म की राजनीतिक क्रान्ति से होता है। आगे घोषणापत्र में इस पार्टी के औचित्य पर प्रकाश डाला जाता है। यहाँ हमें बताया जाता है कि देश की किसी भी पार्टी से भ्रष्टाचार-मुक्त भारत की उम्मीद नहीं की जा सकती है। हमें यह भी बताया जाता है कि "पिछले दो सालों से हमने (केजरीवाल एण्ड कम्पनी ने) सबकुछ करके देख लिया। सरकार से चर्चा की, सभी पार्टियों से प्रार्थना की, उनके सामने गिड़गिड़ाये, धरना किया, प्रदर्शन किया, और तीन बार अनिश्चितकालीन अनशन किया। लेकिन ये पार्टियाँ नहीं मानीं, नेता नहीं माने।" इसके बाद अचानक केजरीवाल एण्ड पार्टी का सुर बदलता है और वह कहते हैं कि अब गिड़गिड़ाने से काम नहीं चलेगा। अब इन सभी पार्टियों को सत्ता से उखाड़कर फेंकना ही होगा। पूरी व्यवस्था ही बदलनी होगी। प्रिय पाठक! अति-आशान्वित मत होइये! क्योंकि अगले ही वाक्य में हमें यह बतलाकर हमारी ज्ञान चक्षु खोले जाते हैं कि इन सभी बातों का यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि राजनीति में बैठे सभी लोग भ्रष्ट हैं और यह भी नहीं है कि केजरीवाल एण्ड पार्टी ईमानदार हैं और अगर वे लोग सत्ता में पहुँचे तो ईमानदारी से सरकार चलायेंगे! एक बात तो माननी पड़ेगी! आप केजरीवाल एण्ड कम्पनी की किसी और बात से सहमत हों या न हों, उनकी इस बात से तो आप सहमत हुए बिना नहीं रह सकते! क्या ईमानदारी और साफ़गोई दिखायी है! लेकिन फिर यह सवाल उठता है कि अगर मौजूदा पार्टियाँ भ्रष्ट हैं और आम आदमी पार्टी भी ईमानदार होने का दम नहीं भरती तो फिर श्रीमान केजरीवाल की क्रान्ति होगी कैसे? इस पर तपाक से उनका जवाब आता है कि पूरी राजनीतिक (ग़ौर कीजिये केवल राजनीतिक) व्यवस्था जो दूषित हो चुकी है, को पूरी तरह से बदलना होगा। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें "सीधे जनता के हाथ में चाभी" हो। केजरीवाल एण्ड पार्टी सत्ता के केन्द्रों को ध्वस्त करके राजनीतिक सत्ता सीधे जनता के हाथ में देने जा रही है!

वैसे तो इसके आगे और कुछ भी बताने की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि इतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि केजरीवाल के आन्दोलन के निशाने पर पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था नहीं है, बल्कि एक बुरा-भ्रष्ट पूँजीवाद है, या स्वयं केजरीवाल के शब्दों में "साँठ-गाँठ करने वाला पूँजीवाद" है। आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र में आप एक भी जगह स्वयं पूँजीवाद को कठघरे में खड़ा नहीं पाते हैं। आपको कहीं पर भी इस बात का ज़िक्र तक नहीं मिलता कि अगर भ्रष्टाचार है तो आख़िर क्यों है? हर जगह इसके बारे में ऐसे बात की गयी है कि यह प्राकृतिक रूप से प्रदत्त कोई समस्या है। कहीं पर भी यह नहीं बताया जाता है कि जिस सामाजिक-आर्थिक संरचना की बुनियाद में ही मुनाफ़े, लोभ, लालच की संस्कृति और तर्क व्याप्त हो, वहाँ भ्रष्टाचार से इतर आप किसी अन्य आचरण की उम्मीद कर ही कैसे सकते हैं? लोकपाल कानून को 'पनेशिया' बताकर भ्रष्टाचार के मूल स्रोत पर ही पर्दा डाल दिया जाता है। क्या यह सच नहीं है कि एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था जिसमें पूरा उत्पादन और वितरण तन्त्र समाज की ज़रूरतों के लिए काम नहीं करता, बल्कि पूँजीपतियों के निजी मुनाफ़े के लिए काम करता है, उसमें भ्रष्टाचार की समस्या का कोई समाधान नहीं है। केजरीवाल एण्ड पार्टी पूँजीवाद के इसी सच को छिपाने का काम कर रहे हैं।

हम वापस आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र पर आते हैं। घोषणापत्र में "आज़ादी के दीवानों" के सपनों के भारत का आह्वान किया गया है। और आज़ादी के इन दीवानों में लाइन से महात्मा गाँधी, सुभाष चन्द्र बोस, भगतसिंह, अशफाकउल्ला, चन्द्रशेखर आज़ाद, रामप्रसाद बिस्मिल और मंगल पाण्डेय की बात की गयी है। क्या महात्मा गाँधी और भगतसिंह व उनके साथियों ने आज़ाद भारत का एक ही सपना देखा था? क्या इन लोगों के विचार, अगर सिर्फ़ आज़ादी की ही बात करें, तो उसको लेकर भी, विचारधारात्मक रूप से भी भिन्न नहीं थे? इस तरह के विचारधारा से ऊपर प्रतीत होने वाले लोकरंजक जुमलों का इस्तेमाल करने वाले केजरीवाल एण्ड पार्टी बुर्जुआ राजनीति में पहले लोग नहीं हैं। इनकी पार्टी तो इसकी समृद्ध विरासत में एक इज़ाफ़ा भर कर रही है। इसके बाद कुछ फिल्मी-टाइप डायलॉगबाज़ी में संविधान में 'आम आदमी' से किये गये वायदों की बात की गयी है। और यहीं से इस घोषणापत्र में विरोधाभासों की श्रृंखला शुरू हो जाती है। एक तरफ़ तो केजरीवाल एण्ड पार्टी संविधान की न्यायपरकता का गुणगान गाते नहीं थकते और वहीं दूसरी तरफ़ अपने घोषणापत्र में थोड़ा आगे बढ़ते ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में उसी औपनिवेशिक कानून और ढाँचे को बनाये रखने की आलोचना करते हैं, जिसका अंग स्वयं यह संविधान भी है। लगता है केजरीवाल यह भूल गये हैं कि 1950 में जो संविधान अस्तित्व में आया वह 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' का ही एक संशोधित रूप था। आगे घोषणापत्र में कहा गया है कि सबसे पहले अंग्रेज़ों द्वारा बनाये गये ढाँचे को बदलना होगा। इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि क्या फिर संविधान को भी बदलना पड़ेगा? ऐसी विसंगतियों की तो इस घोषणापत्र में भरमार है। इसका कारण भी स्वयं इस पार्टी की राजनीति में अन्तर्निहित है। अपनी तमाम "क्रान्तिकारिता" के बावजूद केजरीवाल एण्ड पार्टी बुर्जुआ वर्ग की ही सेवा में लगी है। फर्क बस इतना है कि वे इस काम को ज़्यादा चालाकी से अंजाम दे रहे हैं। कुछ रैडिकल जुमलों और नारों का इस्तेमाल करके वे यह भ्रम पैदा करने की कोशिश कर रहे हैं कि वे कोई नयी बात कह रहे हैं। या फिर कोई नया रास्ता सुझा रहे हैं। लेकिन जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, ऐसा कुछ नहीं है।

घोषणापत्र में आगे हमें मौजूदा ढाँचे के तीन स्तम्भों कार्यपालिका, विधायिका, और न्यायपालिका के बारे में बताया जाता है। केजरीवाल एण्ड पार्टी के अनुसार ये तीनों ही अपनी भूमिका से चुक गये हैं। सरकार में बैठे कुछ नेता और अफसर देश के सभी फैसले लेते हैं, जनता की कुछ नहीं चलती है। आम आदमी पार्टी का यही सपना है कि "सरकार" शब्द की परिभाषा बदली जाय। इनके अनुसार अब कोई राजा नहीं होगा, कोई प्रजा नहीं होगी, कोई वी. आई.पी. नहीं होगा। केवल आम आदमी होगा! इस देश का हर आम आदमी "सरकार" होगा। यह वाकई दिवा-स्वप्न के समान है। केजरीवाल एण्ड पार्टी इसे पूरा करने का एक बहुत ही आसान रास्ता सुझाते हैं। इस पार्टी के घोषणापत्र में कहा गया है कि यह मॉडल ऐसा होगा जिसमें अपने गाँव के बारे में सभी निर्णय गाँव की ग्रामसभा में बैठकर उस गाँव के लोग ले सकेंगे। शहरों में अपनी मुहल्लों की समस्याओं के बारे में उस मुहल्ले में रहने वाले सभी लोग निर्णय ले सकेंगे। जब लोग ग्राम सभा और मुहल्ला सभा में बैठकर निर्णय लेंगे तो अपने गाँव और मुहल्ले के लिए वही सरकार होंगे। लेकिन ये सभी निर्णय संविधान और अन्य कानूनों के तहत होने चाहिए उनके बाहर नहीं होने चाहिए। लेकिन यह कहीं नहीं बताया जाता कि इस मॉडल में समाज में मौजूद समस्त उत्पादक संसाधनों का स्वामी कौन होगा? क्या मौजूदा समाज में संसाधनों और सम्पत्ति का जो बँटवारा मौजूद है, वह कायम रखते हुए ये नयी राजनीतिक संस्थाएँ बनायी जायेंगी? यदि हाँ, तो ऐसी राजनीतिक संस्थाओं में औपचारिक तौर पर तो निर्णय लेने का अधिकार सभी नागरिकों के पास होगा, लेकिन व्यवहारतः उन्हीं नागरिकों की सुनी जायेगी, जिनके पास आर्थिक और उत्पादक संसाधनों पर ज़्यादा नियन्त्रण होगा। यानी कि, अगर राजनीतिक निर्णय लेने की मौजूदा इकाई को बदल भी दिया जाय तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा, बशर्ते कि समाज में मौजूद समस्त उत्पादक संसाधनों का स्वामी समूचे मेहनतकश वर्ग को सामूहिक तौर पर बनाया जाय। लेकिन इस विषय में घोषणापत्र में केजरीवाल ने कहीं एक शब्द भी नहीं कहा है कि वे जिस तथाकथित नयी व्यवस्था की बात कर रहे हैं उसमें समूचे कल-कारखानों, खेतों-खलिहानों और खानों-खदानों का मालिक कौन होगा? अगर टाटा, बिड़ला, बजाज, हिन्दुजा, अम्बानी, जिन्दल और मित्तल ही उसके मालिक होंगे, तो केजरीवाल की गली-मुहल्ला सभाएँ और ग्राम सभाएँ कुछ नहीं कर पायेंगी। वास्तव में, राजनीतिक निर्णय लेने की ताक़त भी उन्हीं के पास होती है जिनके पास समाज में आर्थिक संसाधनों पर इज़ारेदारी होती है। और जाहिर है कि केजरीवाल इनके ख़िलाफ़ नहीं जायेंगे।

मौजूदा सम्पत्ति सम्बन्धों को बदले बिना इस किस्म के भागीदारी लोकतन्त्र के सभी मॉडल बुर्जुआ वर्चस्व को ही मज़बूत करने का काम करेंगे। विधायिका और न्यायपालिका के चरित्र के बारे में भी यह बात उतनी ही सच है। पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंक कर और पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण करके ही सत्ता की असल बागडोर आम मेहनतकश जनता के हाथों में आ सकती है। इस काम को अंजाम दिये बग़ैर सरकार चलाने और कानून बनाने में 'आम आदमी' की भागीदारी की बात जुमलेबाज़ी से ज़्यादा कुछ नहीं है।

इसके बाद आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र में राजनीति पर एक लघु नैतिक उपदेश दिया गया है। और हमें बताया गया है कि आम आदमी पार्टी का ध्येय राजनीति को एक बार फिर देशभक्ति और समाजसेवा से जोड़ना है, जैसा कि गाँधी ने किया था। यहाँ स्पष्ट ही है कि केजरीवाल एण्ड

(पेज 14 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006